

## अध्याय तीन

# कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; ज्यायसी—श्रेष्ठ; चेत्—यदि; कर्मणः—सकाम कर्म की अपेक्षा; ते—तुम्हारे द्वारा; मता—मानी जाती है; बुद्धिः—बुद्धि; जनार्दन—हे कृष्ण; तत्—अतः; किम्—क्यों, फिर; कर्मणि—कर्म में; घोरे—भयंकर, हिंसात्मक; माम्—मुझको; नियोजयसि—नियुक्त करते हो; केशव—हे कृष्ण ।

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन, हे केशव! यदि आप बुद्धि को सकाम कर्म से श्रेष्ठ समझते हैं तो फिर आप मुझे इस घोर युद्ध में क्यों लगाना चाहते हैं ?

तात्पर्य

श्रीभगवान् कृष्ण ने पिछले अध्याय में अपने घनिष्ठ मित्र अर्जुन को संसार के शोक-सागर से उबारने के उद्देश्य से आत्मा के स्वरूप का विशद् वर्णन किया है और आत्म-साक्षात्कार के जिस मार्ग की संस्तुति की है वह है—बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत। कभी-कभी कृष्णभावनामृत को भूल से जड़ता समझ लिया जाता है और ऐसी भ्रान्त धारणा वाला मनुष्य भगवान् कृष्ण के नाम-जप द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रायः एकान्त स्थान में चला जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत-दर्शन में प्रशिक्षित हुए बिना एकान्त स्थान में कृष्ण नाम-जप करना ठीक नहीं। इससे अबोध जनता से केवल सस्ती प्रशंसा प्राप्त हो सकेगी। अर्जुन को भी कृष्णभावनामृत या बुद्धियोग ऐसा लगा मानो वह सक्रिय जीवन से संन्यास

लेकर एकान्त स्थान में तपस्या का अभ्यास हो। दूसरे शब्दों में, वह कृष्णभावनामृत को बहाना बनाकर चातुरीपूर्वक युद्ध से जी छुड़ाना चाहता था। किन्तु एकनिष्ठ शिष्य होने के नाते उसने यह बात अपने गुरु के समक्ष रखी और कृष्ण से सर्वोत्तम कार्य-विधि के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में भगवान् ने तृतीय अध्याय में कर्मयोग अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की।

**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।**

**तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥**

#### शब्दार्थ

व्यामिश्रेण—अनेकार्थक; इव—मानो; वाक्येन—शब्दों से; बुद्धिम्—बुद्धि; मोहयसि—मोह रहे हो; इव—मानो; मे—मेरी; तत्—अतः; एकम्—एकमात्र; वद—कहिये; निश्चित्य—निश्चय करके; येन—जिससे; श्रेयः—वास्तविक लाभ; अहम्—मैं; आप्नुयाम्—पा सकूँ।

आपके व्यामिश्रित (अनेकार्थक) उपदेशों से मेरी बुद्धि मोहित हो गई है। अतः कृपा करके निश्चयपूर्वक मुझे बतायें कि इनमें से मेरे लिए सर्वाधिक श्रेयस्कर क्या होगा?

#### तात्पर्य

पिछले अध्याय में, भगवद्गीता के उपक्रम के रूप में सांख्ययोग, बुद्धियोग, बुद्धि द्वारा इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्मयोग तथा नवदीक्षित की स्थिति जैसे विभिन्न मार्गों का वर्णन किया गया है। किन्तु उसमें तारतम्य नहीं था। कर्म करने तथा समझने के लिए मार्ग की अधिक व्यवस्थित रूपरेखा की आवश्यकता होगी। अतः अर्जुन इन भ्रामक विषयों को स्पष्ट कर लेना चाहता था, जिससे सामान्य मनुष्य बिना किसी भ्रम के उन्हें स्वीकार कर सके। यद्यपि श्रीकृष्ण वाञ्छतुरी से अर्जुन को चकराना नहीं चाहते थे, किन्तु अर्जुन यह नहीं समझ सका कि कृष्णभावनामृत क्या है—जड़ता है या कि सक्रिय सेवा। दूसरे शब्दों में, अपने प्रश्नों से वह उन समस्त शिष्यों के लिए जो भगवद्गीता के रहस्य को समझना चाहते हैं, कृष्णभावनामृत का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; द्वि-विधा—दो प्रकार की; निष्ठा—श्रद्धा; पुरा—पहले; प्रोक्ता—कही गई; मया—मेरे द्वारा; अनघ—हे निष्ठाप; ज्ञान-योगेन—ज्ञानयोग के द्वारा; साङ्ख्यानाम्—ज्ञानियों का; कर्म-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; योगिनाम्—भक्तों का।

श्रीभगवान् ने कहा—हे निष्ठाप अर्जुन! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करने वाले दो प्रकार के पुरुष होते हैं। कुछ इसे ज्ञानयोग द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं, तो कुछ भक्ति-मय सेवा के द्वारा।

तात्पर्य

द्वितीय अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में भगवान् ने दो प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख किया है—सांख्ययोग तथा कर्मयोग या बुद्धियोग। इस श्लोक में इनकी और अधिक स्पष्ट विवेचना की गई है। सांख्ययोग अथवा आत्मा तथा पदार्थ की प्रकृति का वैश्लेषिक अध्ययन उन लोगों के लिए है जो व्यावहारिक ज्ञान तथा दर्शन द्वारा वस्तुओं का चिन्तन एवं मनन करना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग कृष्णभावनामृत में कार्य करते हैं जैसा कि द्वितीय अध्याय के इकसठवें श्लोक में बताया गया है। उन्तालीसवें श्लोक में भी भगवान् ने बताया है कि बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों पर चलते हुए मनुष्य कर्म के बन्धनों से छूट सकता है तथा इस पद्धति में कोई दोष नहीं है। इकसठवें श्लोक में इसी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट किया गया है—कि बुद्धियोग पूर्णतया परब्रह्म (विशेषतया कृष्ण) पर आश्रित है और इस प्रकार से समस्त इन्द्रियों को सरलता से वश में किया जा सकता है। अतः दोनों प्रकार के योग धर्म तथा दर्शन के रूप में अन्योन्याश्रित हैं। दर्शनविहीन धर्म मात्र भावुकता या कभी-कभी धर्मान्धता है और धर्मविहीन दर्शन मानसिक ऊहापोह है। अन्तिम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण हैं क्योंकि जो दार्शनिकजन परम सत्य की खोज करते रहते हैं, वे अन्ततः कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं। इसका भी उल्लेख *भगवद्गीता* में

मिलता है। सम्पूर्ण पद्धति का उद्देश्य परमात्मा के सम्बन्ध में अपनी वास्तविक स्थिति को समझ लेना है। इसकी अप्रत्यक्ष पद्धति दार्शनिक चिन्तन है, जिसके द्वारा क्रम से कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सकता है। प्रत्यक्ष पद्धति में कृष्णभावनामृत में ही प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ना होता है। इन दोनों में से कृष्णभावनामृत का मार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें दार्शनिक पद्धति द्वारा इन्द्रियों को विमल नहीं करना होता। कृष्णभावनामृत स्वयं ही शुद्ध करने वाली प्रक्रिया है और भक्ति की प्रत्यक्ष विधि सरल तथा दिव्य होती है।

**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।**

**न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥**

**शब्दार्थ**

न—नहीं; कर्मणाम्—नियत कर्मों के; अनारम्भात्—न करने से; नैष्कर्म्यम्—कर्मबन्धन से मुक्ति को; पुरुषः—मनुष्य; अश्नुते—प्राप्त करता है; न—नहीं; च—भी; सन्न्यसनात्—त्याग से; एव—केवल; सिद्धिम्—सफलता; समधिगच्छति—प्राप्त करता है।

न तो कर्म से विमुख होकर कोई कर्मफल से छुटकारा पा सकता है और न केवल संन्यास से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

**तात्पर्य**

भौतिकतावादी मनुष्यों के हृदयों को विमल करने के लिए जिन कर्मों का विधान किया गया है उनके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। शुद्धि के बिना अनायास संन्यास ग्रहण करने से सफलता नहीं मिल पाती। ज्ञानयोगियों के अनुसार संन्यास ग्रहण करने अथवा सकाम कर्म से विरत होने से ही मनुष्य नारायण के समान हो जाता है। किन्तु भगवान् कृष्ण इस मत का अनुमोदन नहीं करते। हृदय की शुद्धि के बिना संन्यास सामाजिक व्यवस्था में उत्पात उत्पन्न करता है। दूसरी ओर यदि कोई नियत कर्मों को न करके भी भगवान् की दिव्य सेवा करता है तो वह उस मार्ग में जो कुछ भी उन्नति करता है उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं

(बुद्धियोग)। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। ऐसे सिद्धान्त की रंचमात्र सम्पन्नता भी महान कठिनाइयों को पार करने में सहायक होती है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; कश्चित्—कोई; क्षणम्—क्षणमात्र; अपि—भी; जातु—किसी काल में; तिष्ठति—रहता है; अकर्म-कृत्—बिना कुछ किये; कार्यते—करने के लिए बाध्य होता है; हि—निश्चय ही; अवशः—विवश होकर; कर्म—कर्म; सर्वः—समस्त; प्रकृति-जैः—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न; गुणैः—गुणों के द्वारा।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई भी एक क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

#### तात्पर्य

यह देहधारी जीवन का प्रश्न नहीं है, अपितु आत्मा का यह स्वभाव है कि वह सदैव सक्रिय रहता है। आत्मा की अनुपस्थिति में भौतिक शरीर हिल भी नहीं सकता। यह शरीर मृत-वाहन के समान है जो आत्मा द्वारा चालित होता है क्योंकि आत्मा सदैव गतिशील (सक्रिय) रहता है और वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुक सकता। अतः आत्मा को कृष्णभावनामृत के सत्कर्म में प्रवृत्त रखना चाहिए अन्यथा वह माया द्वारा शासित कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा। माया के संसर्ग में आकर आत्मा भौतिक गुण प्राप्त कर लेता है और आत्मा को ऐसे आकर्षणों से शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा आदिष्ट कर्मों में इसे संलग्न रखा जाय। किन्तु यदि आत्मा कृष्णभावनामृत के अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है, तो वह जो भी करता है उसके लिए कल्याणप्रद होता है। श्रीमद्भागवत (१.५.१७) द्वारा इसकी पुष्टि हुई है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपन्नोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्रवाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

“यदि कोई कृष्णभावनामृत अंगीकार कर लेता है तो भले ही वह शास्त्रानुमोदित कर्मों को न करे अथवा ठीक से भक्ति न करे और चाहे वह

पतित भी हो जाय तो इसमें उसकी हानि या बुराई नहीं होगी। किन्तु यदि वह शास्त्रानुमोदित सारे कार्य करे और कृष्णभावनाभावित न हो तो ये सारे कार्य उसके किस लाभ के हैं?’ अतः कृष्णभावनामृत के इस स्तर तक पहुँचने के लिए शुद्धिकरण की प्रक्रिया आवश्यक है। अतएव संन्यास या कोई भी शुद्धिकारी पद्धति कृष्णभावनामृत के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता देने के लिए है, क्योंकि उसके बिना सब कुछ व्यर्थ है।

**कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।**

**इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥**

**शब्दार्थ**

कर्म-इन्द्रियाणि—पाँचों कर्मैन्द्रियों को; संयम्य—वश में करके; यः—जो; आस्ते—रहता है; मनसा—मन से; स्मरन्—सोचता हुआ; इन्द्रिय-अर्थान्—इन्द्रियविषयों को; विमूढ—मूर्ख; आत्मा—जीव; मिथ्या-आचारः—दम्भी; सः—वह; उच्यते—कहलाता है।

जो कर्मैन्द्रियों को वश में तो करता है, किन्तु जिसका मन इन्द्रियविषयों का चिन्तन करता रहता है, वह निश्चित रूप से स्वयं को धोखा देता है और मिथ्याचारी कहलाता है।

**तात्पर्य**

ऐसे अनेक मिथ्याचारी व्यक्ति होते हैं जो कृष्णभावनामृत में कार्य तो नहीं करते, किन्तु ध्यान का दिखावा करते हैं, जबकि वास्तव में वे मन में इन्द्रियभोग का चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे लोग अपने अबोध शिष्यों को बहकाने के लिए शुष्क दर्शन के विषय में भी व्याख्यान दे सकते हैं, किन्तु इस श्लोक के अनुसार वे सबसे बड़े धूर्त हैं। इन्द्रियसुख के लिए किसी भी आश्रम में रहकर कर्म किया जा सकता है, किन्तु यदि उस विशिष्ट पद का उपयोग विधिविधानों के पालन में किया जाय तो व्यक्ति की क्रमशः आत्मशुद्धि हो सकती है। किन्तु जो अपने को योगी बताते हुए इन्द्रियतृप्ति के विषयों की खोज में लगा रहता है, वह सबसे बड़ा धूर्त है, भले ही वह कभी-कभी दर्शन का उपदेश क्यों न दे। उसका ज्ञान व्यर्थ है क्योंकि ऐसे पापी पुरुष के ज्ञान के सारे फल भगवान् की माया द्वारा हर लिये जाते हैं।

ऐसे धूर्त का चित्त सदैव अशुद्ध रहता है, अतएव उसके यौगिक ध्यान का कोई अर्थ नहीं होता।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

#### शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; मनसा—मन के द्वारा; नियम्य—वश में करके; आरभते—प्रारम्भ करता है; अर्जुन—हे अर्जुन; कर्म-इन्द्रियैः—कर्मेन्द्रियों से; कर्म-योगम्—भक्ति; असक्तः—अनासक्त; सः—वह; विशिष्यते—श्रेष्ठ है।

दूसरी ओर यदि कोई निष्ठावान व्यक्ति अपने मन के द्वारा कर्मेन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करता है और बिना किसी आसक्ति के कर्मयोग (कृष्णभावनामृत में) प्रारम्भ करता है, तो वह अति उत्कृष्ट है।

#### तात्पर्य

लम्पट जीवन और इन्द्रियसुख के लिए छद्म योगी का मिथ्या वेष धारण करने की अपेक्षा अपने कर्म में लगे रह कर जीवन-लक्ष्य को, जो भवबन्धन से मुक्त होकर भगवद्धाम को जाना है, प्राप्त करने के लिए कर्म करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। प्रमुख स्वार्थ-गति तो विष्णु के पास जाना है। सम्पूर्ण वर्णाश्रम-धर्म का उद्देश्य इसी जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति है। एक गृहस्थ भी कृष्णभावनामृत में नियमित सेवा करके इस लक्ष्य तक पहुँच सकता है। आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य शास्त्रानुमोदित संयमित जीवन बिता सकता है और अनासक्त भाव से अपना कार्य करता रह सकता है। इस प्रकार वह प्रगति कर सकता है। जो निष्ठावान व्यक्ति इस विधि का पालन करता है वह उस पाखंडी (धूर्त) से कहीं श्रेष्ठ है जो अबोध जनता को ठगने के लिए दिखावटी आध्यात्मिकता का जामा धारण करता है। जीविका के लिए ध्यान धरने वाले प्रवंचक ध्यानी की अपेक्षा सड़क पर झाड़ू लगाने वाला निष्ठावान व्यक्ति कहीं अच्छा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ८ ॥

### शब्दार्थ

नियतम्—नियत; कुरु—करो; कर्म—कर्तव्य; त्वम्—तुम; कर्म—कर्म करना;  
ज्यायः—श्रेष्ठ; हि—निश्चय ही; अकर्मणः—काम न करने की अपेक्षा; शरीर—शरीर  
का; यात्रा—पालन, निर्वाह; अपि—भी; च—भी; ते—तुम्हारा; न—कभी नहीं;  
प्रसिद्धयेत्—सिद्ध होता; अकर्मणः—बिना काम के।

अपना नियत कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता।

### तात्पर्य

ऐसे अनेक छद्म ध्यानी हैं जो अपने आपको उच्चकुलीन बताते हैं तथा ऐसे बड़े-बड़े व्यवसायी व्यक्ति हैं जो झूठा दिखावा करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है। श्रीकृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन मिथ्याचारी बने, अपितु वे चाहते थे कि अर्जुन क्षत्रियों के लिए निर्दिष्ट धर्म का पालन करे। अर्जुन गृहस्थ था और एक सेनानायक था, अतः उसके लिए श्रेयस्कर था कि वह उसी रूप में गृहस्थ क्षत्रिय के लिए निर्दिष्ट धार्मिक कर्तव्यों का पालन करे। ऐसे कार्यों से संसारी मनुष्य का हृदय क्रमशः विमल हो जाता है और वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। देह-निर्वाह के लिए किये गये तथाकथित त्याग (संन्यास) का अनुमोदन न तो भगवान् करते हैं और न कोई धर्मशास्त्र ही। आखिर देह-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ करना होता है। भौतिकतावादी वासनाओं की शुद्धि के बिना कर्म का मनमाने ढंग से त्याग करना ठीक नहीं। इस जगत् का प्रत्येक व्यक्ति निश्चय ही प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के लिए मलिन प्रवृत्ति से ग्रस्त रहता है। ऐसी दूषित प्रवृत्तियों को शुद्ध करने की आवश्यकता है। नियत कर्मों द्वारा ऐसा किये बिना मनुष्य को चाहिए कि तथाकथित अध्यात्मवादी (योगी) बनने तथा सारा काम छोड़ कर अन्यो पर जीवित रहने का प्रयास न करे।



यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

यज्ञ-अर्थात्—एकमात्र यज्ञ या विष्णु के लिए किया गया; कर्मणः—कर्म की अपेक्षा;  
अन्यत्र—अन्यथा; लोकः—संसार; अयम्—यह; कर्म-बन्धनः—कर्म के कारण  
बन्धन; तत्—उस; अर्थम्—के लिए; कर्म—कर्म; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; मुक्त-  
सङ्गः—सङ्ग ( फलाकांक्षा ) से मुक्त; समाचर—भलीभाँति आचरण करो ।

श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत् में बन्धन उत्पन्न होता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम बन्धन से सदा मुक्त रहोगे।

### तात्पर्य

चूँकि मनुष्य को शरीर के निर्वाह के लिए भी कर्म करना होता है, अतः विशिष्ट सामाजिक स्थिति तथा गुण को ध्यान में रखकर नियत कर्म इस तरह बनाये गये हैं कि उस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यज्ञ का अर्थ भगवान् विष्णु है। सारे यज्ञ भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए हैं। वेदों का आदेश है—*यज्ञो वै विष्णुः*। दूसरे शब्दों में, चाहे कोई निर्दिष्ट यज्ञ सम्पन्न करे या प्रत्यक्ष रूप से भगवान् विष्णु की सेवा करे, दोनों से एक ही प्रयोजन सिद्ध होता है, अतः जैसा कि इस श्लोक में संस्तुत किया गया है, कृष्णभावनामृत यज्ञ ही है। वर्णाश्रम-धर्म का भी उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। *वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते ( विष्णु पुराण ३.८.८ )*।

अतः भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। इस जगत् में किया जाने वाला अन्य कोई कर्म बन्धन का कारण होगा, क्योंकि अच्छे तथा बुरे कर्मों के फल होते हैं और कोई भी फल कर्म करने वाले को बाँध लेता है। अतः कृष्ण (विष्णु) को प्रसन्न करने के लिए कृष्णभावनाभावित होना होगा और जब कोई ऐसा कर्म करता है तो वह मुक्त दशा को प्राप्त रहता है। यही महान कर्म कौशल है और प्रारम्भ में इस विधि में अत्यन्त कुशल मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। अतः भगवद्भक्त के निर्देशन में

या साक्षात् भगवान् कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अन्तर्गत (जिनके अधीन अर्जुन को कर्म करने का अवसर मिला था) मनुष्य को परिश्रमपूर्वक कर्म करना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए, अपितु हर कार्य कृष्ण की प्रसन्नता (तुष्टि) के लिए होना चाहिए। इस विधि से न केवल कर्म के बन्धन से बचा जा सकता है, अपितु इससे मनुष्य को क्रमशः भगवान् की वह प्रेमाभक्ति प्राप्त हो सकेगी, जो भगवद्धाम को ले जाने वाली है।

**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**

**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥**

**शब्दार्थ**

सह—के साथ; यज्ञाः—यज्ञों; प्रजाः—सन्ततियों; सृष्ट्वा—रच कर; पुरा—प्राचीन काल में; उवाच—कहा; प्रजा-पतिः—जीवों के स्वामी ने; अनेन—इससे; प्रसविष्यध्वम्—अधिकाधिक समृद्ध होओ; एषः—यह; वः—तुम्हारा; अस्तु—होए; इष्ट—समस्त वांछित वस्तुओं का; काम-धुक्—प्रदाता।

सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त प्राणियों के स्वामी ( प्रजापति ) ने विष्णु के लिए यज्ञ सहित मनुष्यों तथा देवताओं की सन्ततियों को रचा और उनसे कहा, “तुम इस यज्ञ से सुखी रहो क्योंकि इसके करने से तुम्हें सुखपूर्वक रहने तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए समस्त वांछित वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी।”

**तात्पर्य**

प्राणियों के स्वामी (विष्णु) द्वारा भौतिक सृष्टि की रचना बद्धजीवों के लिए भगवद्धाम वापस जाने का सुअवसर है। इस सृष्टि के सारे जीव प्रकृति द्वारा बद्ध हैं क्योंकि उन्होंने श्रीभगवान् विष्णु या कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है। इस शाश्वत सम्बन्ध को समझने में वैदिक नियम हमारी सहायता के लिए हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* भगवान् का कथन है कि वेदों का उद्देश्य मुझे समझना है। वैदिक स्तुतियों में कहा गया है—*पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम् ।* अतः जीवों

के स्वामी (प्रजापति) श्रीभगवान् विष्णु हैं। श्रीमद्भागवत में भी (२.४.२०) श्रील शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् को अनेक रूपों में पति कहा है—

*श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।*

*पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥*

प्रजापति तो भगवान् विष्णु हैं और वे समस्त प्राणियों के, समस्त लोकों के तथा सुन्दरता के स्वामी (पति) हैं और हर एक के त्राता हैं। भगवान् ने इस भौतिक जगत् को इसलिए रचा कि बद्धजीव यह सीख सकें कि वे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किस प्रकार यज्ञ करें जिससे वे इस जगत् में चिन्तारहित होकर सुखपूर्वक रह सकें तथा इस भौतिक देह का अन्त होने पर भगवद्धाम को जा सकें। बद्धजीव के लिए ही यह सम्पूर्ण कार्यक्रम है। यज्ञ करने से बद्धजीव क्रमशः कृष्णभावनाभावित होते हैं और सभी प्रकार से देवतुल्य बनते हैं। कलियुग में वैदिक शास्त्रों ने संकीर्तन-यज्ञ (भगवान् के नामों का कीर्तन) का विधान किया है और इस दिव्य विधि का प्रवर्तन चैतन्य महाप्रभु द्वारा इस युग के समस्त लोगों के उद्धार के लिए किया गया। संकीर्तन-यज्ञ तथा कृष्णभावनामृत में अच्छा तालमेल है। श्रीमद्भागवत (११.५.३२) में संकीर्तन-यज्ञ के विशेष प्रसंग में, भगवान् कृष्ण का अपने भक्तरूप (चैतन्य महाप्रभु रूप) में निम्न प्रकार से उल्लेख हुआ है—

*कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम् ।*

*यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥*

“इस कलियुग में जो लोग पर्याप्त बुद्धिमान हैं वे भगवान् की उनके पार्षदों सहित संकीर्तन-यज्ञ द्वारा पूजा करेंगे।” वेदों में वर्णित अन्य यज्ञों को इस कलिकाल में कर पाना सहज नहीं, किन्तु संकीर्तन-यज्ञ सुगम है और सभी दृष्टि से अलौकिक है, जैसा कि भगवद्गीता में भी (९.१४) संस्तुति की गई है।

**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।**

**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥**

**शब्दार्थ**

देवान्—देवताओं को; भावयता—प्रसन्न करके; अनेन—इस यज्ञ से; ते—वे; देवाः—देवता; भावयन्तु—प्रसन्न करेंगे; वः—तुमको; परस्परम्—आपस में; भावयन्तः—एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए; श्रेयः—वर, मंगल; परम्—परम; अवाप्स्यथ—तुम प्राप्त करोगे।

यज्ञों के द्वारा प्रसन्न होकर देवता तुम्हें भी प्रसन्न करेंगे और इस तरह मनुष्यों तथा देवताओं के मध्य सहयोग से सबों को सम्पन्नता प्राप्त होगी।

### तात्पर्य

देवतागण सांसारिक कार्यों के लिए अधिकारप्राप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव द्वारा शरीर धारण करने के लिए आवश्यक वायु, प्रकाश, जल तथा अन्य सारे वर उन देवताओं के अधिकार में हैं, जो भगवान् के शरीर के विभिन्न भागों में असंख्य सहायकों के रूप में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्यों द्वारा यज्ञ की सम्पन्नता पर निर्भर है। कुछ यज्ञ किन्हीं विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए होते हैं, किन्तु तो भी सारे यज्ञों में भगवान् विष्णु को प्रमुख भोक्ता की भाँति पूजा जाता है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं सभी प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* अतः समस्त यज्ञों का मुख्य प्रयोजन यज्ञपति को प्रसन्न करना है। जब ये यज्ञ सुचारु रूप से सम्पन्न किये जाते हैं, तो विभिन्न विभागों के अधिकारी देवता प्रसन्न होते हैं और प्राकृतिक पदार्थों का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों को सम्पन्न करने से अन्य लाभ भी होते हैं, जिनसे अन्ततः भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। यज्ञ से सारे कर्म पवित्र हो जाते हैं, जैसा कि वेदवचन है—*आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्बे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः।* यज्ञ से मनुष्य के खाद्यपदार्थ शुद्ध होते हैं और शुद्ध भोजन करने से मनुष्य-जीवन शुद्ध हो जाता है, जीवन शुद्ध होने से स्मृति के सूक्ष्म-तन्तु शुद्ध होते हैं और स्मृति-तन्तुओं के शुद्ध होने पर मनुष्य मुक्तिमार्ग का चिन्तन कर सकता है और ये सब मिलकर कृष्णभावनामृत तक पहुँचाते हैं, जो आज के समाज के लिए सर्वाधिक आवश्यक है।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

#### शब्दार्थ

इष्टान्—वांछित; भोगान्—जीवन की आवश्यकताएँ; हि—निश्चय ही; वः—तुम्हें;  
देवाः—देवतागण; दास्यन्ते—प्रदान करेंगे; यज्ञ-भाविताः—यज्ञ सम्पन्न करने से प्रसन्न  
होकर; तैः—उनके द्वारा; दत्तान्—प्रदत्त वस्तुएँ; अप्रदाय—बिना भेंट किये; एभ्यः—  
इन देवताओं को; यः—जो; भुङ्क्ते—भोग करता है; स्तेनः—चोर; एव—निश्चय ही;  
सः—वह।

जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले विभिन्न देवता यज्ञ सम्पन्न होने पर प्रसन्न होकर तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु जो इन उपहारों को देवताओं को अर्पित किये बिना भोगता है, वह निश्चित रूप से चोर है।

#### तात्पर्य

देवतागण भगवान् विष्णु द्वारा भोग-सामग्री प्रदान करने के लिए अधिकृत किये गये हैं। अतः नियत यज्ञों द्वारा उन्हें अवश्य संतुष्ट करना चाहिए। वेदों में विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों की संस्तुति है, किन्तु वे सब अन्ततः भगवान् को ही अर्पित किये जाते हैं। किन्तु जो यह नहीं समझ सकता कि भगवान् क्या हैं, उसके लिए देवयज्ञ का विधान है। अनुष्ठानकर्ता के भौतिक गुणों के अनुसार वेदों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विधान है। विभिन्न देवताओं की पूजा भी उसी आधार पर अर्थात् गुणों के अनुसार की जाती है। उदाहरणार्थ, मांसाहारियों को देवी काली की पूजा करने के लिए कहा जाता है, जो भौतिक प्रकृति की घोर रूपा हैं और देवी के समक्ष पशुबलि का आदेश है। किन्तु जो सतोगुणी हैं उनके लिए विष्णु की दिव्य पूजा बताई जाती है। अन्ततः समस्त यज्ञों का ध्येय उत्तरोत्तर दिव्य-पद प्राप्त करना है। सामान्य व्यक्तियों के लिए कम से कम पाँच यज्ञ आवश्यक हैं, जिन्हें पञ्चमहायज्ञ कहते हैं।

किन्तु मनुष्य को यह जानना चाहिए कि जीवन की सारी आवश्यकताएँ भगवान् के देवता प्रतिनिधियों द्वारा ही पूरी की जाती हैं। कोई कुछ बना नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मानव समाज के भोज्य पदार्थों को लें। इन भोज्य

पदार्थों में शाकाहारियों के लिए अन्न, फल, शाक, दूध, चीनी आदि हैं तथा मांसाहारियों के लिए मांसादि जिनमें से कोई भी पदार्थ मनुष्य नहीं बना सकता। एक और उदाहरण लें—यथा ऊष्मा, प्रकाश, जल, वायु आदि जो जीवन के लिए आवश्यक हैं, इनमें से किसी को बनाया नहीं जा सकता। परमेश्वर के बिना न तो प्रचुर प्रकाश मिल सकता है, न चाँदनी, वर्षा या प्रातःकालीन समीर ही, जिनके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि हमारा जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तुओं पर आश्रित है। यहाँ तक कि हमें अपने उत्पादन-उद्यमों के लिए अनेक कच्चे मालों की आवश्यकता होती है यथा धातु, गंधक, पारद, मैंगनीज तथा अन्य अनेक आवश्यक वस्तुएँ जिनकी पूर्ति भगवान् के प्रतिनिधि इस उद्देश्य से करते हैं कि हम इनका समुचित उपयोग करके आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने आपको स्वस्थ एवं पुष्ट बनायें जिससे जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् भौतिक जीवन-संघर्ष से मुक्ति प्राप्त हो सके। यज्ञ सम्पन्न करने से मानव जीवन का यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। यदि हम जीवन-उद्देश्य को भूल कर भगवान् के प्रतिनिधियों से अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुएँ लेते रहेंगे और इस संसार में अधिकाधिक फँसते जायेंगे, जो कि सृष्टि का उद्देश्य नहीं है तो निश्चय ही हम चोर हैं और इस तरह हम प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होंगे। चोरों का समाज कभी सुखी नहीं रह सकता क्योंकि उनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। भौतिकतावादी चोरों का कभी कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। उन्हें तो केवल इन्द्रियतृप्ति की चिन्ता रहती है, वे नहीं जानते कि यज्ञ किस तरह किये जाते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने यज्ञ सम्पन्न करने की सरलतम विधि का प्रवर्तन किया। यह है संकीर्तन-यज्ञ जो संसार के किसी भी व्यक्ति द्वारा, जो कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को अंगीकार करता है, सम्पन्न किया जा सकता है।

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**

**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥**

**शब्दार्थ**

यज्ञ-शिष्ट—यज्ञ सम्पन्न करने के बाद ग्रहण किये जाने वाले भोजन को; अशिनः—  
खाने वाले; सन्तः—भक्तगण; मुच्यन्ते—छुटकारा पाते हैं; सर्व—सभी तरह के;

किल्बिषैः—पापों से; भुञ्जते—भोगते हैं; ते—वे; तु—लेकिन; अघम्—घोर पाप;  
पापाः—पापीजन; ये—जो; पचन्ति—भोजन बनाते हैं; आत्म-कारणात्—इन्द्रियसुख  
के लिए।

भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किये भोजन ( प्रसाद ) को ही खाते हैं। अन्य लोग, जो अपने इन्द्रियसुख के लिए भोजन बनाते हैं, वे निश्चित रूप से पाप खाते हैं।

तात्पर्य

भगवद्भक्तों या कृष्णभावनाभावित पुरुषों को सन्त कहा जाता है। वे सदैव भगवत्प्रेम में निमग्न रहते हैं, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।* सन्तगण श्रीभगवान् गोविन्द ( समस्त आनन्द के दाता), या मुकुन्द (मुक्ति के दाता), या कृष्ण (सबों को आकृष्ट करने वाले पुरुष) के प्रगाढ़ प्रेम में मग्न रहने के कारण कोई भी वस्तु परम पुरुष को अर्पित किये बिना ग्रहण नहीं करते। फलतः ऐसे भक्त पृथक्-पृथक् भक्ति-साधनों के द्वारा, यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन आदि के द्वारा यज्ञ करते रहते हैं, जिससे वे संसार की सम्पूर्ण पापमयी संगति के कल्मष से दूर रहते हैं। अन्य लोग, जो अपने लिए या इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं वे न केवल चोर हैं, अपितु सभी प्रकार के पापों को खाने वाले हैं। जो व्यक्ति चोर तथा पापी दोनों हो, भला वह किस तरह सुखी रह सकता है? यह सम्भव नहीं। अतः सभी प्रकार से सुखी रहने के लिए मनुष्यों को पूर्ण कृष्णभावनामृत में संकीर्तन-यज्ञ करने की सरल विधि बताई जानी चाहिए, अन्यथा संसार में शान्ति या सुख नहीं हो सकता।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अन्नात्—अन्न से; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; भूतानि—भौतिक शरीर; पर्जन्यात्—वर्षा से; अन्न—अन्न का; सम्भवः—उत्पादन; यज्ञात्—यज्ञ सम्पन्न करने से; भवति—सम्भव

होती है; पर्जन्यः—वर्षा; यज्ञः—यज्ञ का सम्पन्न होना; कर्म—नियत कर्तव्य से; समुद्भवः—उत्पन्न होता है।

सारे प्राणी अन्न पर आश्रित हैं, जो वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ सम्पन्न करने से होती है और यज्ञ नियत कर्मों से उत्पन्न होता है।

### तात्पर्य

भगवद्गीता के महान टीकाकार श्रील बलदेव विद्याभूषण इस प्रकार लिखते हैं—ये इन्द्राद्यङ्गतयावस्थितं यज्ञं सर्वेश्वरं विष्णुमभ्यर्च्य तच्छेषमश्नन्ति तेन तद्देहयात्रां सम्पादयन्ति ते सन्तः सर्वेश्वरस्य यज्ञपुरुषस्य भक्ताः सर्वकिल्बिषैर् अनादिकालविवृद्धैर् आत्मानुभवप्रतिबन्धकैर्निखिलैः पार्थैर्विमुच्यन्ते। परमेश्वर, जो यज्ञपुरुष अथवा समस्त यज्ञों के भोक्ता कहलाते हैं, सभी देवताओं के स्वामी हैं और जिस प्रकार शरीर के अंग पूरे शरीर की सेवा करते हैं, उसी तरह सारे देवता उनकी सेवा करते हैं। इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवता भगवान् द्वारा नियुक्त अधिकारी हैं, जो सांसारिक कार्यों की देखरेख करते हैं। सारे वेद इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों का निर्देश करते हैं, जिससे वे अन्न उत्पादन के लिए प्रचुर वायु, प्रकाश तथा जल प्रदान करें। जब कृष्ण की पूजा की जाती है तो उनके अंगस्वरूप देवताओं की भी स्वतः पूजा हो जाती है, अतः देवताओं की अलग से पूजा करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी हेतु कृष्णभावनाभावित भगवद्भक्त सर्वप्रथम कृष्ण को भोजन अर्पित करते हैं और तब खाते हैं—यह ऐसी विधि है जिससे शरीर का आध्यात्मिक पोषण होता है। ऐसा करने से न केवल शरीर के विगत पापमय कर्मफल नष्ट होते हैं, अपितु शरीर प्रकृति के समस्त कल्मषों से निरापद हो जाता है। जब कोई छूत का रोग फैलता है तो इसके आक्रमण से बचने के लिए रोगाणुरोधी टीका लगाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् विष्णु को अर्पित करके ग्रहण किया जाने वाला भोजन हमें भौतिक संदूषण से निरापद बनाता है और जो इस विधि का अभ्यस्त है वह भगवद्भक्त कहलाता है। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति, जो केवल कृष्ण को अर्पित किया गया भोजन करता है, वह उन समस्त विगत भौतिक दूषणों के फलों का सामना



करने में समर्थ होता है, जो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक बनते हैं। इसके विपरीत जो ऐसा नहीं करता वह अपने पापपूर्ण कर्म को बढ़ाता रहता है जिससे उसे सारे पापफलों को भोगने के लिए अगला शरीर कूकरो-सूकरो के समान मिलता है। यह भौतिक जगत् नाना कल्मषों से पूर्ण है और जो भी भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करके उनसे निरापद हो लेता है वह उनके आक्रमण से बच जाता है, किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह कल्मष का लक्ष्य बनता है।

अन्न अथवा शाक वास्तव में खाद्य हैं। मनुष्य विभिन्न प्रकार के अन्न, शाक, फल आदि खाते हैं, जबकि पशु इन पदार्थों के उच्छिष्ट को खाते हैं। जो मनुष्य मांस खाने के अभ्यस्त हैं उन्हें भी शाक के उत्पादन पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि पशु शाक ही खाते हैं। अतएव हमें अन्ततोगत्वा खेतों के उत्पादन पर ही आश्रित रहना है, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों के उत्पादन पर नहीं। खेतों का यह उत्पादन आकाश से होने वाली प्रचुर वर्षा पर निर्भर करता है और ऐसी वर्षा इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं के द्वारा नियन्त्रित होती है। ये देवता भगवान् के दास हैं। भगवान् को यज्ञों के द्वारा सन्तुष्ट रखा जा सकता है, अतः जो इन यज्ञों को सम्पन्न नहीं करता, उसे अभाव का सामना करना होगा—यही प्रकृति का नियम है। अतः भोजन के अभाव से बचने के लिए यज्ञ, और विशेष रूप से इस युग के लिए संस्तुत संकीर्तन-यज्ञ, सम्पन्न करना चाहिए।

**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।**

**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥**

**शब्दार्थ**

कर्म—कर्म; ब्रह्म—वेदों से; उद्भवम्—उत्पन्न; विद्धि—जानो; ब्रह्म—वेद; अक्षर—परब्रह्म से; समुद्भवम्—साक्षात् प्रकट हुआ; तस्मात्—अतः; सर्व-गतम्—सर्वव्यापी; ब्रह्म—ब्रह्म; नित्यम्—शाश्वत रूप से; यज्ञे—यज्ञ में; प्रतिष्ठितम्—स्थित।

वेदों में नियमित कर्मों का विधान है और ये वेद साक्षात् श्रीभगवान् ( परब्रह्म ) से प्रकट हुए हैं। फलतः सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञकर्मों में सदा स्थित रहता है।

### तात्पर्य

इस श्लोक में यज्ञार्थ-कर्म अर्थात् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए कर्म की आवश्यकता को भलीभाँति विवेचित किया गया है। यदि हमें यज्ञ-पुरुष विष्णु के परितोष के लिए कर्म करना है तो हमें ब्रह्म या दिव्य वेदों से कर्म की दिशा प्राप्त करनी होगी। अतः सारे वेद कर्मादेशों की संहिताएँ हैं। वेदों के निर्देश के बिना किया गया कोई भी कर्म विकर्म या अवैध अथवा पापपूर्ण कर्म कहलाता है। अतः कर्मफल से बचने के लिए सदैव वेदों से निर्देश प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार सामान्य जीवन में राज्य के निर्देश के अन्तर्गत कार्य करना होता है उसी प्रकार भगवान् के परम राज्य के निर्देशन में कार्य करना चाहिए। वेदों में ऐसे निर्देश भगवान् के श्वास से प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। कहा गया है—*अस्य महतो भूतस्य निश्चितम् एतद् यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः* “चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—भगवान् के श्वास से उद्भूत हैं।” ( *बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.५.११ ) *ब्रह्मसंहिता* से प्रमाणित होता है कि सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् अपने श्वास के द्वारा बोल सकते हैं, अपनी प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा अन्य समस्त इन्द्रियों के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं, दूसरे शब्दों में, भगवान् अपनी निःश्वास के द्वारा बोल सकते हैं और वे अपने नेत्रों से गर्भाधान कर सकते हैं। वस्तुतः यह कहा जाता है कि उन्होंने प्रकृति पर दृष्टिपात किया और समस्त जीवों को गर्भस्थ किया। इस तरह प्रकृति के गर्भ में बद्धजीवों को प्रविष्ट करने के पश्चात् उन्होंने उन्हें वैदिक ज्ञान के रूप में आदेश दिया, जिससे वे भगवद्धाम वापस जा सकें। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति में सारे बद्धजीव भौतिक भोग के लिए इच्छुक रहते हैं। किन्तु वैदिक आदेश इस प्रकार बनाये गये हैं कि मुन्य्य अपनी विकृत इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है और तथाकथित सुखभोग पूरा करके भगवान् के पास लौट सकता है। बद्धजीवों के लिए मुक्ति प्राप्त करने का यह सुनहरा अवसर होता है, अतः उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनाभावित होकर यज्ञ-विधि का पालन करें। यहाँ तक कि जो वैदिक आदेशों का पालन नहीं करते वे भी कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को ग्रहण कर सकते हैं जिससे वैदिक यज्ञों या कर्मों की पूर्ति हो जाएगी।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रवर्तितम्—वेदों द्वारा स्थापित; चक्रम्—चक्र; न—नहीं;  
अनुवर्तयति—ग्रहण करता; इह—इस जीवन में; यः—जो; अघ-आयुः—पापपूर्ण  
जीवन है जिसका; इन्द्रिय-आरामः—इन्द्रियासक्त; मोघम्—वृथा; पार्थ—हे पृथापुत्र  
( अर्जुन ) ; सः—वह; जीवति—जीवित रहता है ।

हे प्रिय अर्जुन! जो मानव जीवन में इस प्रकार वेदों द्वारा स्थापित यज्ञ-चक्र का पालन नहीं करता वह निश्चय ही पापमय जीवन व्यतीत करता है। ऐसा व्यक्ति केवल इन्द्रियों की तुष्टि के लिए व्यर्थ ही जीवित रहता है।

#### तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् ने “कठोर परिश्रम करो और इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लो” इस सांसारिक विचारधारा का तिरस्कार किया है। अतः जो लोग इस संसार में भोग करना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त यज्ञ-चक्र का अनुसरण करना परमावश्यक है। जो ऐसे विधिविधानों का पालन नहीं करता, अधिकाधिक तिरस्कृत होने के कारण उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण रहता है। प्रकृति के नियमानुसार यह मानव शरीर विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है जिसे कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग में से किसी एक विधि से प्राप्त किया जा सकता है। इन योगियों के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि ये पाप-पुण्य से परे होते हैं, किन्तु जो लोग इन्द्रियतृप्ति में जुटे हुए हैं उन्हें पूर्वोक्त यज्ञ-चक्र के द्वारा शुद्धिकरण की आवश्यकता रहती है। कर्म के अनेक भेद होते हैं। जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं वे निश्चय ही विषय-परायण होते हैं, अतः उन्हें पुण्य कर्म करने की आवश्यकता होती है। यज्ञ पद्धति इस प्रकार सुनियोजित है कि विषयोन्मुख लोग विषयों के फल में फँसे बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। संसार की सम्पन्नता हमारे प्रयासों पर नहीं, अपितु परमेश्वर की पृष्ठभूमि-योजना पर निर्भर है, जिसे देवता

सम्पादित करते हैं। अतः वेदों में वर्णित देवताओं को लक्षित करके यज्ञ किये जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में यह कृष्णभावनामृत का ही अभ्यास रहता है क्योंकि जब कोई इन यज्ञों में दक्षता प्राप्त कर लेता है तो वह अवश्य ही कृष्णभावनाभावित हो जाता है। किन्तु यदि ऐसे यज्ञ करने से कोई कृष्णभावनाभावित नहीं हो पाता तो इसे कोरी आचार-संहिता समझना चाहिए। अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे आचार-संहिता तक ही अपनी प्रगति को सीमित न करें, अपितु उसे पार करके कृष्णभावनामृत को प्राप्त हों।

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।**

**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥**

**शब्दार्थ**

यः—जो; तु—लेकिन; आत्म-रतिः—आत्मा में ही आनन्द लेते हुए; एव—निश्चय ही; स्यात्—रहता है; आत्म-तृप्तः—स्वयंप्रकाशित; च—तथा; मानवः—मनुष्य; आत्मनि—अपने में; एव—केवल; च—तथा; सन्तुष्टः—पूर्णतया सन्तुष्ट; तस्य—उसका; कार्यम्—कर्तव्य; न—नहीं; विद्यते—रहता है।

किन्तु जो व्यक्ति आत्मा में ही आनन्द लेता है तथा जिसका जीवन आत्म-साक्षात्कार युक्त है और जो अपने में ही पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कुछ करणीय (कर्तव्य) नहीं होता।

**तात्पर्य**

जो व्यक्ति पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनामृत के कार्यों से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है उसे कुछ भी नियत कर्म नहीं करना होता। कृष्णभावनाभावित होने के कारण उसके हृदय का सारा मैल तुरन्त धुल जाता है, जो हजारों-हजारों यज्ञों को सम्पन्न करने पर ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार चेतना के शुद्ध होने से मनुष्य परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो जाता है। भगवत्कृपा से उसका कार्य स्वयंप्रकाशित हो जाता है; अतएव वैदिक आदेशों के प्रति उसका कर्तव्य निःशेष हो जाता है। ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी भौतिक

कार्यों में रुचि नहीं लेता और न ही उसे सुरा, सुन्दरी तथा अन्य प्रलोभनों में कोई आनन्द मिलता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; तस्य—उसका; कृतेन—कार्यसम्पादन से; अर्थः—प्रयोजन; न—न तो; अकृतेन—कार्य न करने से; इह—इस संसार में; कश्चन—जो कुछ भी; न—कभी नहीं; च—तथा; अस्य—उसका; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; कश्चित्—कोई; अर्थ—प्रयोजन; व्यपाश्रयः—शरणागत।

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लिए न तो अपने नियत कर्मों को करने की आवश्यकता रह जाती है, न ऐसा कर्म न करने का कोई कारण ही रहता है। उसे किसी अन्य जीव पर निर्भर रहने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

#### तात्पर्य

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को कृष्णभावनाभावित कर्म के अतिरिक्त कुछ भी करना नहीं होता। किन्तु यह कृष्णभावनामृत निष्क्रियता भी नहीं है, जैसा कि अगले श्लोकों में बताया जाएगा। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति किसी की शरण ग्रहण नहीं करता—चाहे वह मनुष्य हो या देवता। कृष्णभावनामृत में वह जो भी करता है वही उसके कर्तव्य-सम्पादन के लिए पर्याप्त है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; असक्तः—आसक्तिरहित; सततम्—निरन्तर; कार्यम्—कर्तव्य के रूप में; कर्म—कार्य; समाचर—करो; असक्तः—अनासक्त; हि—निश्चय ही; आचरन्—करते हुए; कर्म—कार्य; परम्—परब्रह्म को; आप्नोति—प्राप्त करता है; पूरुषः—पुरुष, मनुष्य।

**अतः कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से उसे परब्रह्म ( परम ) की प्राप्ति होती है।**

**तात्पर्य**

भक्तों के लिए श्रीभगवान् परम हैं और निर्विशेषवादियों के लिए मुक्ति परम है। अतः जो व्यक्ति समुचित पथप्रदर्शन पाकर और कर्मफल से अनासक्त होकर कृष्ण के लिए या कृष्णभावनामृत में कार्य करता है, वह निश्चित रूप से जीवन-लक्ष्य की ओर प्रगति करता है। अर्जुन से कहा जा रहा है कि वह कृष्ण के लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़े क्योंकि कृष्ण की इच्छा है कि वह ऐसा करे। उत्तम व्यक्ति होना या अहिंसक होना व्यक्तिगत आसक्ति है, किन्तु फल की आसक्ति से रहित होकर कार्य करना परमात्मा के लिए कार्य करना है। यह उच्चतम कोटि का पूर्ण कर्म है, जिसकी संस्तुति भगवान् कृष्ण ने की है।

नियत यज्ञ, जैसे वैदिक अनुष्ठान, उन पापकर्मों की शुद्धि के लिए किये जाते हैं जो इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से किये गए हों। किन्तु कृष्णभावनामृत में जो कर्म किया जाता है वह अच्छे या बुरे कर्म के फलों से परे है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में फल के प्रति लेशमात्र आसक्ति नहीं रहती, वह तो केवल कृष्ण के लिए कार्य करता है। वह समस्त प्रकार के कर्मों में रत रह कर भी पूर्णतया अनासक्त रहा आता है।

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।**

**लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥**

**शब्दार्थ**

कर्मणा—कर्म से; एव—ही; हि—निश्चय ही; संसिद्धिम्—पूर्णता में; आस्थिताः—स्थित; जनक-आदयः—जनक तथा अन्य राजा; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य लोग; एव अपि—भी; सम्पश्यन्—विचार करते हुए; कर्तुम्—करने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

जनक जैसे राजाओं ने केवल नियत कर्मों को करने से ही सिद्धि प्राप्त की। अतः सामान्य जनों को शिक्षित करने की दृष्टि से तुम्हें कर्म करना चाहिए।

**तात्पर्य**

जनक जैसे राजा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति थे, अतः वे वेदानुमोदित कर्म करने के लिए बाध्य न थे। तो भी वे लोग सामान्यजनों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सारे नियत कर्म करते रहे। जनक सीताजी के पिता तथा भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। भगवान् के महान भक्त होने के कारण उनकी स्थिति दिव्य थी, किन्तु चूँकि वे मिथिला (जो भारत के बिहार प्रान्त में एक परगना है) के राजा थे, अतः उन्हें अपनी प्रजा को यह शिक्षा देनी थी कि कर्तव्य-पालन किस प्रकार किया जाता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके शाश्वत सखा अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु उन्होंने जनता को यह सिखाने के लिए युद्ध किया कि जब सत्परामर्श असफल हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में हिंसा आवश्यक हो जाती है। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व युद्ध-निवारण के लिए भगवान् तक ने सारे प्रयास किये, किन्तु दूसरा पक्ष लड़ने पर तुला था। अतः ऐसे सद्धर्म के लिए युद्ध करना आवश्यक था। यद्यपि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को संसार में कोई रुचि नहीं हो सकती तो भी वह जनता को यह सिखाने के लिए कि किस तरह रहना और कार्य करना चाहिए, कर्म करता रहता है। कृष्णभावनामृत में अनुभवी व्यक्ति इस तरह कार्य करते हैं कि अन्य लोग उनका अनुसरण कर सकें और इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।**

**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥**

**शब्दार्थ**

यत् यत्—जो-जो; आचरति—करता है; श्रेष्ठः—आदरणीय नेता; तत्—वही; तत्—  
तथा केवल वही; एव—निश्चय ही; इतरः—सामान्य; जनः—व्यक्ति; सः—वह; यत्—  
जो कुछ; प्रमाणम्—उदाहरण, आदर्श; कुरुते—करता है; लोकः—सारा संसार;  
तत्—उसके; अनुवर्तते—पदचिह्नों का अनुसरण करता है।

महापुरुष जो जो आचरण करता है, सामान्य व्यक्ति उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो आदर्श प्रस्तुत करता है, सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।

#### तात्पर्य

सामान्य लोगों को सदैव एक ऐसे नेता की आवश्यकता होती है, जो व्यावहारिक आचरण द्वारा जनता को शिक्षा दे सके। यदि नेता स्वयं धूम्रपान करता है तो वह जनता को धूम्रपान बन्द करने की शिक्षा नहीं दे सकता। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि शिक्षा देने के पूर्व शिक्षक को ठीक-ठीक आचरण करना चाहिए। जो इस प्रकार शिक्षा देता है वह आचार्य या आदर्श शिक्षक कहलाता है। अतः शिक्षक को चाहिए कि सामान्यजन को शिक्षा देने के लिए स्वयं शास्त्रीय सिद्धान्तों का पालन करे। कोई भी शिक्षक प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों के नियमों के विपरीत कोई नियम नहीं बना सकता। मनु-संहिता जैसे प्रामाणिक ग्रंथ मानव समाज के लिए अनुसरणीय आदर्श ग्रंथ हैं, अतः नेता का उपदेश ऐसे आदर्श शास्त्रों के नियमों पर आधारित होना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी उन्नति चाहता है उसे महान शिक्षकों द्वारा अभ्यास किये जाने वाले आदर्श नियमों का पालन करना चाहिए। श्रीमद्भागवत भी इसकी पुष्टि करता है कि मनुष्य को महान भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए और आध्यात्मिक बोध के पथ में प्रगति का यही साधन है। चाहे राजा हो या राज्य का प्रशासनाधिकारी, चाहे पिता हो या शिक्षक—ये सब अबोध जनता के स्वाभाविक नेता माने जाते हैं। इन सबका अपने आश्रितों के प्रति महान उत्तरदायित्व रहता है, अतः इन्हें नैतिक तथा आध्यात्मिक संहिता सम्बन्धी आदर्श ग्रंथों से सुपरिचित होना चाहिए।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ



न—नहीं; मे—मुझे; पार्थ—हे पृथापुत्र; अस्ति—है; कर्तव्यम्—नियत कार्य; त्रिषु—तीनों; लोकेषु—लोकों में; किञ्चन—कोई; न—कुछ नहीं; अनवाप्तम्—इच्छित; अवाप्तव्यम्—पाने के लिए; वर्ते—लगा रहता हूँ; एव—निश्चय ही; च—भी; कर्मणि—नियत कर्मों में।

हे पृथापुत्र! तीनों लोकों में मेरे लिए कोई भी कर्म नियत नहीं है, न मुझे किसी वस्तु का अभाव है और न आवश्यकता ही है। तो भी मैं नियतकर्म करने में तत्पर रहता हूँ।

तात्पर्य

वैदिक साहित्य में भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

*तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।*

*पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवेनशमीड्यम् ॥*

*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।*

*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥*

“परमेश्वर समस्त नियन्ताओं के नियन्ता हैं और विभिन्न लोकपालकों में सबसे महान हैं। सभी उनके अधीन हैं। सारे जीवों को परमेश्वर से ही विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, जीव स्वयं श्रेष्ठ नहीं है। वे सभी देवताओं द्वारा पूज्य हैं और समस्त संचालकों के भी संचालक हैं। अतः वे समस्त भौतिक नेताओं तथा नियन्ताओं से बढ़कर हैं और सबों द्वारा आराध्य हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है और वे ही समस्त कारणों के कारण हैं।”

उनका शारीरिक स्वरूप सामान्य जीव जैसा नहीं होता। उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। वे परम हैं। उनकी सारी इन्द्रियाँ दिव्य हैं। उनकी कोई भी इन्द्रिय अन्य किसी इन्द्रिय का कार्य सम्पन्न कर सकती है। अतः न तो कोई उनसे बढ़कर है, न ही उनके तुल्य है। उनकी शक्तियाँ बहुरूपिणी हैं, फलतः उनके सारे कार्य प्राकृतिक अनुक्रम के अनुसार सम्पन्न हो जाते हैं।” ( श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.७-८)।

चूँकि भगवान् में प्रत्येक वस्तु ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहती है और पूर्ण सत्य से ओतप्रोत रहती है, अतः उनके लिए कोई कर्तव्य करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसे अपने कर्म का फल पाना है, उसके लिए कुछ न कुछ कर्म नियत रहता है, परन्तु जो तीनों लोकों में कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता, उसके लिए निश्चय ही कोई कर्तव्य नहीं रहता। फिर भी

क्षत्रियों के नायक के रूप में भगवान् कृष्ण कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कार्यरत हैं, क्योंकि क्षत्रियों का धर्म है कि दीन-दुखियों को आश्रय प्रदान करें। यद्यपि वे शास्त्रों के विधि-विधानों से सर्वथा ऊपर हैं, फिर भी वे ऐसा कुछ भी नहीं करते जो शास्त्रों के विरुद्ध हो।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

यदि—यदि; हि—निश्चय ही; अहम्—मैं; न—नहीं; वर्तेयम्—इस प्रकार व्यस्त रहूँ;  
जातु—कभी; कर्मणि—नियत कर्मों के सम्पादन में; अतन्द्रितः—सावधानी के साथ;  
मम—मेरा; वर्तम्—पथ; अनुवर्तन्ते—अनुगमन करेंगे; मनुष्याः—सारे मनुष्य; पार्थ—हे  
पृथापुत्र; सर्वशः—सभी प्रकार से।

क्योंकि यदि मैं नियत कर्मों को सावधानीपूर्वक न करूँ तो हे पार्थ! यह निश्चित है कि सारे मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे।

#### तात्पर्य

आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए एवं सामाजिक शान्ति में संतुलन बनाये रखने के लिए कुछ परम्परागत कुलाचार हैं जो प्रत्येक सभ्य व्यक्ति के लिए होते हैं। ऐसे विधि-विधान केवल बद्धजीवों के लिए हैं, भगवान् कृष्ण के लिए नहीं, लेकिन क्योंकि वे धर्म की स्थापना के लिए अवतरित हुए थे, अतः उन्होंने निर्दिष्ट नियमों का पालन किया। अन्यथा, सामान्य व्यक्ति भी उन्हीं के पदचिह्नों का अनुसरण करते क्योंकि कृष्ण परम प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत से यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने घर में तथा बाहर गृहस्थोचित धर्म का आचरण करते रहे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

उत्सीदेयुः—नष्ट हो जायँ; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; न—नहीं; कुर्याम्—करूँ;  
कर्म—नियत कार्य; चेत्—यदि; अहम्—मैं; सङ्करस्य—अवांछित संतति का; च—

तथा; कर्ता—स्रष्टा; स्याम्—होऊँगा; उपहन्याम्—विनष्ट करूँगा; इमाः—इन सब;  
प्रजाः—जीवों को।

यदि मैं नियतकर्म न करूँ तो ये सारे लोग नष्ट हो जायँ। तब मैं  
अवांछित जनसमुदाय (वर्णसंकर) को उत्पन्न करने का  
कारण हो जाऊँगा और इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति  
का विनाशक बनूँगा।

तात्पर्य

वर्णसंकर अवांछित जनसमुदाय है जो सामान्य समाज की शान्ति को भंग  
करता है। इस सामाजिक अशान्ति को रोकने के लिए अनेक विधि-विधान  
हैं जिनके द्वारा स्वतः ही जनता आध्यात्मिक प्रगति के लिए शान्त तथा  
सुव्यवस्थित हो जाती है। जब भगवान् कृष्ण अवतरित होते हैं तो  
स्वाभाविक है कि वे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों की प्रतिष्ठा तथा अनिवार्यता  
बनाये रखने के लिए इन विधि-विधानों के अनुसार आचरण करते हैं।  
भगवान् समस्त जीवों के पिता हैं और यदि ये जीव पथभ्रष्ट हो जायँ तो  
अप्रत्यक्ष रूप में यह उत्तरदायित्व उन्हीं का है। अतः जब भी विधि-  
विधानों का अनादर होता है, तो भगवान् स्वयं समाज को सुधारने के लिए  
अवतरित होते हैं। किन्तु हमें ध्यान देना होगा कि यद्यपि हमें भगवान् के  
पदचिह्नों का अनुसरण करना है, तो भी हम उनका अनुकरण नहीं कर  
सकते। अनुसरण और अनुकरण एक से नहीं होते। हम गोवर्धन पर्वत  
उठाकर भगवान् का अनुकरण नहीं कर सकते, जैसा कि भगवान् ने अपने  
बाल्यकाल में किया था। ऐसा कर पाना किसी मनुष्य के लिए सम्भव  
नहीं। हमें उनके उपदेशों का पालन करना चाहिए, किन्तु किसी भी समय  
हमें उनका अनुकरण नहीं करना है। श्रीमद्भागवत में (१०.३३.३०-३१)  
इसकी पुष्टि की गई है—

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।

विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं व्रचित् ।

तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥

“मनुष्य को भगवान् तथा उनके द्वारा शक्तिप्रदत्त सेवकों के उपदेशों का मात्र पालन करना चाहिए। उनके उपदेश हमारे लिए अच्छे हैं और कोई भी बुद्धिमान पुरुष बताई गई विधि से उनको कार्यान्वित करेगा। फिर भी मनुष्य को सावधान रहना चाहिए कि वह उनके कार्यों का अनुकरण न करे। उसे शिवजी के अनुकरण में विष का समुद्र नहीं पी लेना चाहिए।” हमें सदैव ईश्वरों की या सूर्य तथा चन्द्रमा की गतियों को वास्तव में नियंत्रित कर सकने वालों की स्थिति को श्रेष्ठ मानना चाहिए। ऐसी शक्ति के बिना कोई भी सर्वशक्तिमान ईश्वरों का अनुकरण नहीं कर सकता। शिवजी ने सागर तक के विष का पान कर लिया, किन्तु यदि कोई सामान्य व्यक्ति विष की एक बूँद भी पीने का यत्न करेगा तो वह मर जाएगा। शिवजी के अनेक छद्मभक्त हैं जो गाँजा तथा ऐसी ही अन्य मादक वस्तुओं का सेवन करते रहते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार शिवजी का अनुकरण करके वे अपनी मृत्यु को निकट बुला रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के भी अनेक छद्मभक्त हैं जो भगवान् की रासलीला या प्रेमनृत्य का अनुकरण करना चाहते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे गोवर्धन पर्वत को धारण नहीं कर सकते। अतः सबसे अच्छा तो यही होगा कि लोग शक्तिमान का अनुकरण न करके केवल उनके उपदेशों का पालन करें। न ही बिना योग्यता के किसी को उनका स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे अनेक ईश्वर के “अवतार” हैं जिनमें भगवान् की शक्ति नहीं होती।

**सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।**

**कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५ ॥**

**शब्दार्थ**

सक्ताः—आसक्त; कर्मणि—नियत कर्मों में; अविद्वांसः—अज्ञानी; यथा—जिस तरह; कुर्वन्ति—करते हैं; भारत—हे भरतवंशी; कुर्यात्—करना चाहिए; विद्वान्—विद्वान्; तथा—उसी तरह; असक्तः—अनासक्त; चिकीर्षुः—चाहते हुए भी, इच्छुक; लोक-सङ्ग्रहम्—सामान्य जन।

जिस प्रकार अज्ञानी-जन फल की आसक्ति से कार्य करते हैं, उसी तरह विद्वान् जनों को चाहिए कि वे लोगों को उचित पथ पर ले जाने के लिए अनासक्त रहकर कार्य करें।

तात्पर्य

एक कृष्णभावनाभावित मनुष्य तथा एक कृष्णभावनाहीन व्यक्ति में केवल इच्छाओं का भेद होता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो कृष्णभावनामृत के विकास में सहायक न हो। यहाँ तक कि वह उस अज्ञानी पुरुष की तरह कर्म कर सकता है जो भौतिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त रहता है। किन्तु इनमें से एक ऐसे कार्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है, जबकि दूसरा कृष्ण की तुष्टि के लिए। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को चाहिए कि वह लोगों को यह प्रदर्शित करे कि किस तरह कार्य किया जाता है और किस तरह कर्मफलों को कृष्णभावनामृत कार्य में नियोजित किया जाता है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; बुद्धि-भेदम्—बुद्धि का विचलन; जनयेत्—उत्पन्न करे; अज्ञानाम्—मूर्खों का; कर्म-सङ्गिनाम्—सकाम कर्मों में आसक्त; जोषयेत्—नियोजित करे; सर्व—सारे; कर्माणि—कर्म; विद्वान्—विद्वान् व्यक्ति; युक्तः—लगा हुआ, तत्पर; समाचरन्—अभ्यास करता हुआ।

विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि वह सकाम कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों को कर्म करने से रोके नहीं ताकि उनके मन विचलित न हों। अपितु भक्तिभाव से कर्म करते हुए वह उन्हें सभी प्रकार के कार्यों में लगाये ( जिससे कृष्णभावनामृत का क्रमिक विकास हो )।

तात्पर्य

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—यह सिद्धान्त सम्पूर्ण वैदिक अनुष्ठानों की पराकाष्ठा है। सारे अनुष्ठान, सारे यज्ञ-कृत्य तथा वेदों में भौतिक कार्यों के लिए जो

भी निर्देश हैं उन सबों समेत सारी वस्तुएँ कृष्ण को जानने के निमित्त हैं जो हमारे जीवन के चरमलक्ष्य हैं। लेकिन चूँकि बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते, अतः वे वेदों का अध्ययन इसी दृष्टि से करते हैं। किन्तु सकाम कर्मों तथा वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा नियमित इन्द्रियतृप्ति के माध्यम से मनुष्य धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, अतः कृष्णभावनामृत में स्वरूपसिद्ध जीव को चाहिए कि अन्यो को अपना कार्य करने या समझने में बाधा न पहुँचाये, अपितु उन्हें यह प्रदर्शित करे कि किस प्रकार सारे कर्मफल को कृष्ण की सेवा में समर्पित किया जा सकता है। कृष्णभावनाभावित विद्वान व्यक्ति इस तरह कार्य कर सकता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वाले अज्ञानी पुरुष यह सीख लें कि किस तरह कार्य करना चाहिए और आचरण करना चाहिए। यद्यपि अज्ञानी पुरुष को उसके कार्यों में छेड़ना ठीक नहीं होता, परन्तु यदि वह रंचभर भी कृष्णभावनाभावित है तो वह वैदिक विधियों की परवाह न करते हुए सीधे भगवान् की सेवा में लग सकता है। ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति को वैदिक अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्रत्यक्ष कृष्णभावनामृत के द्वारा उसे वे सारे फल प्राप्त हो जाते हैं, जो उसे अपने कर्तव्यों के पालन करने से प्राप्त होते।

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**

**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥**

**शब्दार्थ**

प्रकृतेः—प्रकृति का; क्रियमाणानि—किये जाकर; गुणैः—गुणों के द्वारा; कर्माणि—कर्म; सर्वशः—सभी प्रकार के; अहङ्कार-विमूढ—अहंकार से मोहित; आत्मा—आत्मा; कर्ता—करने वाला; अहम्—मैं हूँ; इति—इस प्रकार; मन्यते—सोचता है।

जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जब कि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

तात्पर्य

दो व्यक्ति जिनमें से एक कृष्णभावनाभावित है और दूसरा भौतिक चेतना वाला है, समान स्तर पर कार्य करते हुए समान पद पर प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उनके पदों में आकाश-पाताल का अन्तर रहता है। भौतिक चेतना वाला व्यक्ति अहंकार के कारण आश्रित रहता है कि वही सभी वस्तुओं का कर्ता है। वह यह नहीं जानता कि शरीर की रचना प्रकृति द्वारा हुई है, जो परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करती है। भौतिकतावादी व्यक्ति यह नहीं जानता कि अन्ततोगत्वा वह कृष्ण के अधीन है। अहंकारवश ऐसा व्यक्ति हर कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने का श्रेय लेना चाहता है और यही है उसके अज्ञान का लक्षण। उसे यह ज्ञात नहीं कि उसके इस स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की रचना प्रकृति द्वारा भगवान् की अध्यक्षता में की गई है, अतः उसके सारे शारीरिक तथा मानसिक कार्य कृष्णभावनामृत में रहकर कृष्ण की सेवा में तत्पर होने चाहिए। अज्ञानी व्यक्ति यह भूल जाता है कि भगवान् हृषीकेश कहलाते हैं अर्थात् वे शरीर की इन्द्रियों के स्वामी हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए इन्द्रियों का निरन्तर उपयोग करते रहने से वह अहंकार के कारण वस्तुतः मोहग्रस्त रहता है, जिससे वह कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है।

**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।**

**गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥**

**शब्दार्थ**

तत्त्व-वित्तु—परम सत्य को जानने वाला; तु—लेकिन; महा-बाहो—हे विशाल भुजाओं वाले; गुण-कर्म—भौतिक प्रभाव के अन्तर्गत कर्म के; विभागयोः—भेद के; गुणाः—इन्द्रियाँ; गुणेषु—इन्द्रियतृप्ति में; वर्तन्ते—तत्पर रहती हैं; इति—इस प्रकार; मत्वा—मानकर; न—कभी नहीं; सज्जते—आसक्त होता है।

हे महाबाहो! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए जो परमसत्य को जानने वाला है, वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।

तात्पर्य

परम सत्य को जानने वाला भौतिक संगति में अपनी विषम स्थिति को जानता है। वह जानता है कि वह भगवान् कृष्ण का अंश है और उसका स्थान इस भौतिक सृष्टि में नहीं होना चाहिए। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भगवान् के अंश के रूप में जानता है जो सत् चित् आनंद हैं और उसे यह अनुभूति होती रहती है कि “मैं किसी कारण से देहात्मबुद्धि में फँस चुका हूँ।” अपने अस्तित्व की शुद्ध अवस्था में उसे सारे कार्य भगवान् कृष्ण की सेवा में नियोजित करने चाहिए। फलतः वह अपने आपको कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगाता है और भौतिक इन्द्रियों के कार्यों के प्रति स्वभावतः अनासक्त हो जाता है क्योंकि ये परिस्थितिजन्य तथा अस्थायी हैं। वह जानता है कि उसके जीवन की भौतिक दशा भगवान् के नियन्त्रण में है, फलतः वह सभी प्रकार के भौतिक बन्धनों से विचलित नहीं होता क्योंकि वह इन्हें भगवत्कृपा मानता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार जो व्यक्ति परम सत्य को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान्—इन तीन विभिन्न रूपों में जानता है वह तत्त्ववित् कहलाता है, क्योंकि वह परमेश्वर के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध को भी जानता है।

**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।**

**तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥**

**शब्दार्थ**

प्रकृतेः—प्रकृति के; गुण—गुणों से; सम्मूढाः—भौतिक पहचान से बेवकूफ बने हुए; सज्जन्ते—लग जाते हैं; गुण-कर्मसु—भौतिक कर्मों में; तान्—उन; अकृत्स्न-विदः—अल्पज्ञानी पुरुष; मन्दान्—आत्म-साक्षात्कार समझने में आलसियों को; कृत्स्न-वित्—ज्ञानी; न—नहीं; विचालयेत्—विचलित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

माया के गुणों से मोहग्रस्त होने पर अज्ञानी पुरुष पूर्णतया भौतिक कार्यों में संलग्न रहकर उनमें आसक्त हो जाते हैं। यद्यपि उनके ये कार्य उनमें ज्ञानाभाव के कारण अधम होते हैं, किन्तु ज्ञानी को चाहिए कि उन्हें विचलित न करे।

तात्पर्य



अज्ञानी मनुष्य स्थूल भौतिक चेतना से और भौतिक उपाधियों से पूर्ण रहते हैं। यह शरीर प्रकृति की देन है और जो व्यक्ति शारीरिक चेतना में अत्यधिक आसक्त होता है वह मन्द अर्थात् आलसी कहा जाता है। अज्ञानी मनुष्य शरीर को आत्मस्वरूप मानते हैं, वे अन्यो के साथ शारीरिक सम्बन्ध को बन्धुत्व मानते हैं, जिस देश में यह शरीर प्राप्त हुआ है उसे वे पूज्य मानते हैं और वे धार्मिक अनुष्ठानों की औपचारिकताओं को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। ऐसे भौतिकताग्रस्त उपाधधारी पुरुषों के कुछ प्रकार के कार्यों में सामाजिक सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार हैं। ऐसी उपाधियों के चक्कर में वे सदैव भौतिक क्षेत्र में व्यस्त रहते हैं, उनके लिए आध्यात्मिक बोध मिथ्या है, अतः वे इसमें रुचि नहीं लेते। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक जीवन में जागरुक हैं, उन्हें चाहिए कि इस तरह भौतिकता में मग्न व्यक्तियों को विचलित न करें। अच्छा तो यही होगा कि वे शान्तभाव से अपने आध्यात्मिक कार्यों को करें। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति अहिंसा जैसे जीवन के मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों तथा इसी प्रकार के परोपकारी कार्यों में लगे हो सकते हैं।

जो लोग अज्ञानी हैं वे कृष्णभावनामृत के कार्यों को समझ नहीं पाते, अतः भगवान् कृष्ण हमें उपदेश देते हैं कि ऐसे लोगों को विचलित न किया जाय और व्यर्थ ही मूल्यवान समय नष्ट न किया जाय। किन्तु भगवद्भक्त भगवान् से भी अधिक दयालु होते हैं, क्योंकि वे भगवान् के अभिप्राय को समझते हैं। फलतः वे सभी प्रकार के संकट झेलते हैं, यहाँ तक कि वे इन अज्ञानी पुरुषों के पास जा-जा कर उन्हें कृष्णभावनामृत के कार्यों में प्रवृत्त करने का प्रयास करते हैं, जो मानव के लिए परमावश्यक है।

**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।**

**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥**

**शब्दार्थ**

मयि—मुझमें; सर्वाणि—सब तरह के; कर्माणि—कर्मों को; सन्न्यस्य—पूर्णतया त्याग करके; अध्यात्म—पूर्ण आत्मज्ञान से युक्त; चेतसा—चेतना से; निराशीः—लाभ की आशा से रहित, निष्काम; निर्ममः—स्वामित्व की भावना से रहित, ममतात्यागी; भूत्वा—होकर; युध्यस्व—लड़ो; विगत-ज्वरः—आलस्यरहित।

अतः हे अर्जुन! अपने सारे कार्यों को मुझमें समर्पित करके मेरे पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर, लाभ की आकांक्षा से रहित, स्वामित्व के किसी दावे के बिना तथा आलस्य से रहित होकर युद्ध करो।

तात्पर्य

यह श्लोक *भगवद्गीता* के प्रयोजन को स्पष्टतया इंगित करने वाला है। भगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म पालन के लिए सैन्य अनुशासन के सदृश पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होना आवश्यक है। ऐसे आदेश से कुछ कठिनाई उपस्थित हो सकती है, फिर भी कृष्ण के आश्रित होकर स्वधर्म का पालन करना ही चाहिए, क्योंकि यह जीव की स्वाभाविक स्थिति है। जीव भगवान् के सहयोग के बिना सुखी नहीं हो सकता क्योंकि जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति ऐसी है कि भगवान् की इच्छाओं के अधीन रहा जाय। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने का इस तरह आदेश दिया मानो भगवान् उसके सेनानायक हों। परमेश्वर की इच्छा के लिए मनुष्य को सर्वस्व की बलि करनी होती है और साथ ही स्वामित्व जताये बिना स्वधर्म का पालन करना होता है। अर्जुन को भगवान् के आदेश का मात्र पालन करना था। परमेश्वर समस्त आत्माओं के आत्मा हैं, अतः जो पूर्णतया परमेश्वर पर आश्रित रहता है या दूसरे शब्दों में, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है वह अध्यात्मचेतस कहलाता है। *निराशीः* का अर्थ है स्वामी के आदेशानुसार कार्य करना, किन्तु फल की आशा न करना। कोषाध्यक्ष अपने स्वामी के लिए लाखों रुपये गिन सकता है, किन्तु इसमें से वह अपने लिए एक पैसा भी नहीं चाहता। इसी प्रकार मनुष्य को यह समझना चाहिए कि इस संसार में किसी व्यक्ति का कुछ भी नहीं है, सारी वस्तुएँ परमेश्वर की हैं। *मयि* अर्थात् मुझमें का वास्तविक तात्पर्य यही है। और जब मनुष्य इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में कार्य करता है तो वह किसी वस्तु पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं करता। यह भावनामृत *निर्मम* अर्थात् “मेरा कुछ नहीं है” कहलाता है। यदि ऐसे कठोर आदेश को, जो शारीरिक सम्बन्ध में तथाकथित बन्धुत्व भावना से रहित है, पूरा करने में कुछ झिझक हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य *विगतज्वर*

अर्थात् ज्वर या आलस्य से रहित हो सकता है। अपने गुण तथा स्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विशेष प्रकार का कार्य करना होता है और ऐसे कर्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

ये—जो; मे—मेरे; मतम्—आदेशों को; इदम्—इन; नित्यम्—नित्यकार्य के रूप में; अनुतिष्ठन्ति—नियमित रूप से पालन करते हैं; मानवाः—मानव प्राणी; श्रद्धा-वन्तः—श्रद्धा तथा भक्ति समेत; अनसूयन्तः—बिना ईर्ष्या के; मुच्यन्ते—मुक्त हो जाते हैं; ते—वे; अपि—भी; कर्मभिः—सकामकर्मों के नियमरूपी बन्धन से।

जो व्यक्ति मेरे आदेशों के अनुसार अपना कर्तव्य करते रहते हैं और ईर्ष्यारहित होकर इस उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, वे सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

#### तात्पर्य

श्रीभगवान् कृष्ण का उपदेश समस्त वैदिक ज्ञान का सार है, अतः किसी अपवाद के बिना यह शाश्वत सत्य है। जिस प्रकार वेद शाश्वत हैं उसी प्रकार कृष्णभावनामृत का यह सत्य भी शाश्वत है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् से ईर्ष्या किये बिना इस आदेश में दृढ विश्वास रखे। ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जो *भगवद्गीता* पर टीका रचते हैं, किन्तु कृष्ण में कोई श्रद्धा नहीं रखते। वे कभी भी सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। किन्तु एक सामान्य पुरुष भगवान् के इन आदेशों में दृढविश्वास करके कर्म-नियम के बन्धन से मुक्त हो जाता है, भले ही वह इन आदेशों का ठीक से पालन न कर पाए। कृष्णभावनामृत के प्रारम्भ में भले ही कृष्ण के आदेशों का पूर्णतया पालन न हो पाए, किन्तु चूँकि मनुष्य इस नियम से रुष्ट नहीं होता और पराजय तथा निराशा का विचार किये बिना निष्ठापूर्वक कार्य करता है, अतः वह विशुद्ध कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

ये—जो; तु—किन्तु; एतत्—इस; अभ्यसूयन्तः—ईर्ष्यावश; न—नहीं; अनुतिष्ठन्ति—नियमित रूप से सम्पन्न करते हैं; मे—मेरा; मतम्—आदेश; सर्व-ज्ञान—सभी प्रकार के ज्ञान में; विमूढान्—पूर्णतया दिग्भ्रमित; तान्—उन्हें; विद्धि—ठीक से जानो; नष्टान्—नष्ट हुए; अचेतसः—कृष्णभावनामृत रहित।

किन्तु जो ईर्ष्यावश इन उपदेशों की उपेक्षा करते हैं और इनका पालन नहीं करते उन्हें समस्त ज्ञान से रहित, दिग्भ्रमित तथा सिद्धि के प्रयासों में नष्ट-भ्रष्ट समझना चाहिए।

#### तात्पर्य

यहाँ पर कृष्णभावनाभावित न होने के दोष का स्पष्ट कथन है। जिस प्रकार परम अधिशासी की आज्ञा के उल्लंघन के लिए दण्ड होता है, उसी प्रकार भगवान् के आदेश के प्रति अवज्ञा के लिए भी दण्ड है। अवज्ञाकारी व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो वह शून्यहृदय होने से आत्मा के प्रति तथा परब्रह्म, परमात्मा एवं श्रीभगवान् के प्रति अनभिज्ञ रहता है। अतः ऐसे व्यक्ति से जीवन की सार्थकता की आशा नहीं की जा सकती।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

सदृशम्—अनुसार; चेष्टते—चेष्टा करता है; स्वस्याः—अपने; प्रकृतेः—गुणों से; ज्ञानवान्—विद्वान्; अपि—यद्यपि; प्रकृतिम्—प्रकृति को; यान्ति—प्राप्त होते हैं; भूतानि—सारे प्राणी; निग्रहः—दमन; किम्—क्या; करिष्यति—कर सकता है।

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है, क्योंकि सभी प्राणी तीनों गुणों से प्राप्त अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं। भला दमन से क्या हो सकता है?

#### तात्पर्य

कृष्णभावनामृत के दिव्य पद पर स्थित हुए बिना प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ जा सकता, जैसा कि स्वयं भगवान् ने सातवें अध्याय में

(७.१४) कहा है। अतः सांसारिक धरातल पर बड़े से बड़े शिक्षित व्यक्ति के लिए केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से आत्मा को शरीर से पृथक् करके माया के बन्धन से निकल पाना असम्भव है। ऐसे अनेक तथाकथित अध्यात्मवादी हैं, जो अपने को विज्ञान में बड़ा-चढ़ा मानते हैं, किन्तु भीतर-भीतर वे पूर्णतया प्रकृति के गुणों के अधीन रहते हैं, जिन्हें जीत पाना कठिन है। ज्ञान की दृष्टि से कोई कितना ही विद्वान् क्यों न हो, किन्तु भौतिक प्रकृति की दीर्घकालीन संगति के कारण वह बन्धन में रहता है। कृष्णभावनामृत उसे भौतिक बन्धन से छूटने में सहायक होता है, भले ही कोई अपने नियतकर्मों के करने में संलग्न क्यों न रहे। अतः पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना नियतकर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए। किसी को भी सहसा अपने नियतकर्म त्यागकर तथाकथित योगी या कृत्रिम अध्यात्मवादी नहीं बन जाना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि यथास्थिति में रहकर श्रेष्ठ प्रशिक्षण के अन्तर्गत कृष्णभावनामृत प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार कृष्ण की माया के बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियस्य—इन्द्रिय का; इन्द्रियस्य अर्थ—इन्द्रियविषयों में; राग—आसक्ति; द्वेषौ—तथा विरक्ति; व्यवस्थितौ—नियमों के अधीन स्थित; तयोः—उनके; न—कभी नहीं; वशम्—नियन्त्रण में; आगच्छेत्—आना चाहिए; तौ—वे दोनों; हि—निश्चय ही; अस्य—उसका; परिपन्थिनौ—अवरोधक।

प्रत्येक इन्द्रिय तथा उसके विषय से सम्बन्धित राग-द्वेष को व्यवस्थित करने के नियम होते हैं। मनुष्य को ऐसे राग तथा द्वेष के वशीभूत नहीं होना चाहिए क्योंकि ये आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अवरोधक हैं।

तात्पर्य

जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं, वे स्वभाव से भौतिक इन्द्रियतृप्ति में रत होने में झिझकते हैं। किन्तु जिन लोगों की ऐसी भावना न हो उन्हें शास्त्रों के यम-नियमों का पालन करना चाहिए। अनियन्त्रित इन्द्रिय-भोग ही भौतिक बन्धन का कारण है, किन्तु जो शास्त्रों के यम-नियमों का पालन करता है, वह इन्द्रिय-विषयों में नहीं फँसता। उदाहरणार्थ, यौन-सुख बद्धजीव के लिए आवश्यक है और विवाह-सम्बन्ध के अन्तर्गत यौन-सुख की छूट दी जाती है। शास्त्रीय आदेशों के अनुसार अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध वर्जित है, अन्य सभी स्त्रियों को अपनी माता मानना चाहिए। किन्तु इन आदेशों के होते हुए भी मनुष्य अन्य स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इन प्रवृत्तियों को दमित करना होगा अन्यथा वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक होंगी। जब तक यह भौतिक शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं को यम-नियमों के अन्तर्गत पूर्ण करने की छूट दी जाती है। किन्तु फिर भी हमें ऐसी छूटों के नियन्त्रण पर विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य को अनासक्त रहकर इन यम-नियमों का पालन करना होता है, क्योंकि नियमों के अन्तर्गत इन्द्रियतृप्ति का अभ्यास भी उसे पथभ्रष्ट कर सकता है, जिस प्रकार कि राजमार्ग तक में दुर्घटना की सम्भावना बनी रहती है। भले ही इन मार्गों की कितनी ही सावधानी से देखभाल क्यों न की जाय, किन्तु इसकी कोई गारन्टी नहीं दे सकता कि सबसे सुरक्षित मार्ग पर भी कोई खतरा नहीं होगा। भौतिक संगति के कारण अत्यन्त दीर्घ काल से इन्द्रिय-सुख की भावना कार्य करती रही है। अतः नियमित इन्द्रिय-भोग के बावजूद भी च्युत होने की हर सम्भावना बनी रहती है, अतः सभी प्रकार से नियमित इन्द्रिय-भोग के लिए किसी भी आसक्ति से बचना चाहिए। लेकिन कृष्णभावनामृत ऐसा है कि इसके प्रति आसक्ति से या सदैव कृष्ण की प्रेमाभक्ति में कार्य करते रहने से सभी प्रकार के ऐन्द्रिय कार्यों से विरक्ति हो जाती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी अवस्था में कृष्णभावनामृत से विरक्त होने की चेष्टा न करे। समस्त प्रकार की इन्द्रिय-आसक्ति से विरक्ति का उद्देश्य अन्ततः कृष्णभावनामृत के पद पर आसीन होना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।  
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

श्रेयान्—अधिक श्रेयस्कर; स्व-धर्मः—अपने नियतकर्म; विगुणः—दोषयुक्त भी; पर-धर्मात्—अन्यों के लिए उल्लिखित कार्यों की अपेक्षा; सु-अनुष्ठितात्—भलीभाँति सम्पन्न; स्व-धर्मे—अपने नियतकर्मों में; निधनम्—विनाश, मृत्यु; श्रेयः—श्रेष्ठतर; पर-धर्मः—अन्यों के लिए नियतकर्म; भय-आवहः—खतरनाक, डरावना ।

अपने नियतकर्मों को दोषपूर्ण ढंग से सम्पन्न करना भी अन्य के कर्मों को भलीभाँति करने से श्रेयस्कर है। स्वीय कर्मों को करते हुए मरना पराये कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है, क्योंकि अन्य किसी के मार्ग का अनुसरण भयावह होता है।

#### तात्पर्य

अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अन्यों के लिए नियतकर्मों की अपेक्षा अपने नियतकर्मों को कृष्णभावनामृत में करे। भौतिक दृष्टि से नियतकर्म मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दशा के अनुसार भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन आदिष्ट कर्म हैं। आध्यात्मिक कर्म गुरु द्वारा कृष्ण की दिव्यसेवा के लिए आदेशित होते हैं। किन्तु चाहे भौतिक कर्म हों या आध्यात्मिक कर्म, मनुष्य को मृत्युपर्यन्त अपने नियतकर्मों में दृढ रहना चाहिए। अन्य के निर्धारित कर्मों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक तथा भौतिक स्तरों पर ये कर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु कर्ता के लिए किसी प्रामाणिक निर्देशन के पालन का सिद्धान्त उत्तम होगा। जब मनुष्य प्रकृति के गुणों के वशीभूत हो तो उसे उस विशेष अवस्था के लिए नियमों का पालन करना चाहिए, उसे अन्यों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सतोगुणी ब्राह्मण कभी हिंसक नहीं होता, किन्तु रजोगुणी क्षत्रिय को हिंसक होने की अनुमति है। इस तरह क्षत्रिय के लिए हिंसा के नियमों का पालन करते हुए विनष्ट होना जितना श्रेयस्कर है उतना अहिंसा के नियमों का पालन करने वाले ब्राह्मण का अनुकरण नहीं। हर व्यक्ति को एकाएक नहीं, अपितु

क्रमशः अपने हृदय को स्वच्छ बनाना चाहिए। किन्तु जब मनुष्य प्रकृति के गुणों को लाँघकर कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन हो जाता है, तो वह प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में सब कुछ कर सकता है। कृष्णभावनामृत की पूर्ण स्थिति में एक क्षत्रिय ब्राह्मण की तरह और एक ब्राह्मण क्षत्रिय की तरह कर्म कर सकता है। दिव्य अवस्था में भौतिक जगत् का भेदभाव नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र मूलतः क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में वे ब्राह्मण हो गये। इसी प्रकार परशुराम पहले ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में वे क्षत्रिय बन गये। ब्रह्म में स्थित होने के कारण ही वे ऐसा कर सके, किन्तु जब तक कोई भौतिक स्तर पर रहता है, उसे प्रकृति के गुणों के अनुसार अपने कर्म करने चाहिए। साथ ही उसे कृष्णभावनामृत का पूरा बोध होना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्णोय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; अथ—तब; केन—किस के द्वारा; प्रयुक्तः—प्रेरित; अयम्—यह; पापम्—पाप; चरति—करता है; पूरुषः—व्यक्ति; अनिच्छन्—न चाहते हुए; अपि—यद्यपि; वाष्णोय—हे वृष्णिवंशी; बलात्—बलपूर्वक; इव—मानो; नियोजितः—लगाया गया।

अर्जुन ने कहा—हे वृष्णिवंशी! मनुष्य न चाहते हुए भी पापकर्मों के लिए प्रेरित क्यों होता है? ऐसा लगता है कि उसे बलपूर्वक उनमें लगाया जा रहा हो।

तात्पर्य

जीवात्मा परमेश्वर का अंश होने के कारण मूलतः आध्यात्मिक, शुद्ध एवं समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त रहता है। फलतः स्वभाव से वह भौतिक जगत् के पापों में प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु जब वह माया के संसर्ग में आता है, तो वह बिना झिझक के और कभी-कभी इच्छा के विरुद्ध भी अनेक प्रकार से पापकर्म करता है। अतः कृष्ण से अर्जुन का प्रश्न अत्यन्त प्रत्याशापूर्ण है कि जीवों की प्रकृति विकृत क्यों हो जाती है। यद्यपि कभी-



कभी जीव कोई पाप नहीं करना चाहता, किन्तु उसे ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। किन्तु ये पापकर्म अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते अपितु अन्य कारण से होते हैं, जैसा कि भगवान् अगले श्लोक में बताते हैं।

*श्रीभगवानुवाच*

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।**

**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; कामः—विषयवासना; एषः—यह; क्रोधः—क्रोध; एषः—यह; रजः-गुण—रजोगुण से; समुद्भवः—उत्पन्न; महा-अशनः—सर्वभक्षी; महा-पाप्मा—महान पापी; विद्ध्य—जानो; एनम्—इसे; इह—इस संसार में; वैरिणम्—महान शत्रु।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण के सम्पर्क से उत्पन्न काम है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण करता है और जो इस संसार का सर्वभक्षी पापी शत्रु है।

**तात्पर्य**

जब जीवात्मा भौतिक सृष्टि के सम्पर्क में आता है तो उसका शाश्वत कृष्ण-प्रेम रजोगुण की संगति से काम में परिणत हो जाता है। अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर-प्रेम का भाव काम में उसी तरह बदल जाता है जिस तरह इमली के संसर्ग से दूध दही में बदल जाता है और जब काम की संतुष्टि नहीं होती तो यह क्रोध में परिणत हो जाता है, क्रोध मोह में और मोह इस संसार में निरन्तर बना रहता है। अतः जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु काम है और यह काम ही है जो विशुद्ध जीवात्मा को इस संसार में फँसे रहने के लिए प्रेरित करता है। क्रोध तमोगुण का प्राकट्य है। ये गुण अपने आपको क्रोध तथा अन्य रूपों में प्रकट करते हैं। अतः यदि रहने तथा कार्य करने की विधियों द्वारा रजोगुण को तमोगुण में न गिरने देकर सतोगुण तक ऊपर उठाया जाय तो मनुष्य को क्रोध में पतित होने से आध्यात्मिक आसक्ति के द्वारा बचाया जा सकता है।

अपने नित्य वर्धमान चिदानन्द के लिए भगवान् ने अपने आपको अनेक रूपों में विस्तारित कर लिया और जीवात्माएँ उनके इस चिदानन्द के ही

अंश हैं। उनको भी आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु अपनी इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके जब वे सेवा को इन्द्रियसुख में बदल देती हैं तो वे काम की चपेट में आ जाती हैं। भगवान् ने इस सृष्टि की रचना जीवात्माओं के लिए इन कामपूर्ण रुचियों की पूर्ति हेतु सुविधा प्रदान करने के निमित्त की और जब जीवात्माएँ दीर्घकाल तक काम-कर्मों में फँसे रहने के कारण पूर्णतया ऊब जाती हैं, तो वे अपना वास्तविक स्वरूप जानने के लिए जिज्ञासा करने लगती हैं।

यही जिज्ञासा वेदान्त-सूत्र का प्रारम्भ है जिसमें यह कहा गया है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—मनुष्य को परम तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए। और इस परम तत्त्व की परिभाषा *श्रीमद्भागवत* में इस प्रकार दी गई है—*जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च*—सारी वस्तुओं का उद्गम परब्रह्म है। अतः काम का उद्गम भी परब्रह्म से हुआ। अतः यदि काम को भगवत्प्रेम में या कृष्णभावना में परिणत कर दिया जाय, या दूसरे शब्दों में कृष्ण के लिए ही सारी इच्छाएँ हों तो काम तथा क्रोध दोनों ही आध्यात्मिक बन सकेंगे। भगवान् राम के अनन्य सेवक हनुमान ने रावण की स्वर्णपुरी को जलाकर अपना क्रोध प्रकट किया, किन्तु ऐसा करने से वे भगवान् के सबसे बड़े भक्त बन गये। यहाँ पर भी श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते हैं कि वह शत्रुओं पर अपना क्रोध भगवान् को प्रसन्न करने के लिए दिखाए। अतः काम तथा क्रोध कृष्णभावनामृत में प्रयुक्त होने पर हमारे शत्रु न रह कर मित्र बन जाते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

धूमेन—धुएँ से; आव्रियते—ढक जाती है; वह्निः—अग्नि; यथा—जिस प्रकार;  
आदर्शः—शीशा, दर्पण; मलेन—धूल से; च—भी; यथा—जिस प्रकार; उल्बेन—  
गर्भाशय द्वारा; आवृतः—ढका रहता है; गर्भः—भ्रूण, गर्भ; तथा—उसी प्रकार; तेन—  
काम से; इदम्—यह; आवृतम्—ढका है।

जिस प्रकार अग्नि धुएँ से, दर्पण धूल से अथवा भ्रूण गर्भाशय से आवृत रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा इस काम की विभिन्न मात्राओं से आवृत रहता है।

**तात्पर्य**

जीवात्मा के आवरण की तीन कोटियाँ हैं जिनसे उसकी शुद्ध चेतना धूमिल होती है। यह आवरण काम ही है जो विभिन्न स्वरूपों में होता है यथा अग्नि में धुआँ, दर्पण पर धूल तथा भ्रूण पर गर्भाशय। जब काम की उपमा धूम्र से दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवित स्फुलिंग की अग्नि कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। दूसरे शब्दों में, जब जीवात्मा अपने कृष्णभावनामृत को कुछ-कुछ प्रकट करता है तो उसकी उपमा धुएँ से आवृत अग्नि से दी जा सकती है। यद्यपि जहाँ कहीं धुआँ होता है वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के शुभारम्भ जैसी है। दर्पण पर धूल का उदाहरण मन रूपी दर्पण को अनेकानेक आध्यात्मिक विधियों से स्वच्छ करने की प्रक्रिया के समान है। इसकी सर्वश्रेष्ठ विधि है—भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन। गर्भाशय द्वारा आवृत भ्रूण का दृष्टान्त असहाय अवस्था से दिया गया है, क्योंकि गर्भ-स्थित शिशु इधर-उधर हिलने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं रहता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के समान है। वृक्ष भी जीवात्माएँ हैं, किन्तु उनमें काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी योनि मिली है कि वे प्रायः चेतनाशून्य होते हैं। धूमिल दर्पण पशु-पक्षियों के समान है और धूम्र से आवृत अग्नि मनुष्य के समान है। मनुष्य के रूप में जीवात्मा में थोड़ा बहुत कृष्णभावनामृत का उदय होता है और यदि वह और प्रगति करता है तो आध्यात्मिक जीवन की अग्नि मनुष्य जीवन में प्रज्वलित हो सकती है। यदि अग्नि के धुएँ को ठीक से नियन्त्रित किया जाय तो अग्नि जल सकती है, अतः यह मनुष्य जीवन जीवात्मा के लिए ऐसा सुअवसर है जिससे वह संसार के बन्धन से छूट सकता है। मनुष्य जीवन में काम रूपी शत्रु को योग्य निर्देशन में कृष्णभावनामृत के अनुशीलन द्वारा जीता जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

#### शब्दार्थ

आवृतम्—ढका हुआ; ज्ञानम्—शुद्ध चेतना; एतेन—इससे; ज्ञानिनः—ज्ञाता का;  
नित्य-वैरिणा—नित्य शत्रु द्वारा; काम-रूपेण—काम के रूप में; कौन्तेय—हे  
कुन्तीपुत्र; दुष्पूरेण—कभी भी तुष्ट न होने वाली; अनलेन—अग्नि द्वारा; च—भी ।

इस प्रकार ज्ञानमय जीवात्मा की शुद्ध चेतना उसके काम रूपी  
नित्य शत्रु से ढकी रहती है जो कभी भी तुष्ट नहीं होता और  
अग्नि के समान जलता रहता है ।

#### तात्पर्य

मनुस्मृति में कहा गया है कि कितना भी विषय-भोग क्यों न किया जाय  
काम की तृप्ति नहीं होती, जिस प्रकार कि निरन्तर ईंधन डालने से अग्नि  
कभी नहीं बुझती। भौतिक जगत् में समस्त कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु  
मैथुन (कामसुख) है, अतः इस जगत् को मैथुन्य-आगार या विषयी-  
जीवन की हथकड़ियाँ कहा गया है। एक सामान्य बन्दीगृह में अपराधियों  
को छड़ों के भीतर रखा जाता है इसी प्रकार जो अपराधी भगवान् के  
नियमों की अवज्ञा करते हैं, वे मैथुन-जीवन द्वारा बन्दी बनाये जाते हैं।  
इन्द्रियतृप्ति के आधार पर भौतिक सभ्यता की प्रगति का अर्थ है, इस जगत्  
में जीवात्मा की बन्धन अवधि को बढ़ाना। अतः यह काम अज्ञान का  
प्रतीक है जिसके द्वारा जीवात्मा को इस संसार में रखा जाता है।  
इन्द्रियतृप्ति का भोग करते समय हो सकता है कि कुछ प्रसन्नता की  
अनुभूति हो, किन्तु यह प्रसन्नता की अनुभूति ही इन्द्रियभोक्ता का चरम शत्रु  
है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; अस्य—इस काम का;  
अधिष्ठानम्—निवासस्थान; उच्यते—कहा जाता है; एतैः—इन सबों से; विमोहयति—

मोहग्रस्त करता है; एषः—यह काम; ज्ञानम्—ज्ञान को; आवृत्य—ढक कर;  
देहिनम्—शरीरधारी को।

इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि इस काम के निवासस्थान हैं। इनके द्वारा यह काम जीवात्मा के वास्तविक ज्ञान को ढक कर उसे मोहित कर लेता है।

तात्पर्य

चूँकि शत्रु ने बद्धजीव के शरीर के विभिन्न सामरिक स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया है, अतः भगवान् कृष्ण उन स्थानों का संकेत कर रहे हैं जिससे शत्रु को जीतने वाला यह जान ले कि शत्रु कहाँ पर है। मन समस्त इन्द्रियों के कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु है, अतः जब हम इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध में सुनते हैं तो मन इन्द्रियतृप्ति के समस्त भावों का आगार बन जाता है। इस तरह मन तथा इन्द्रियाँ काम की शरणस्थली बन जाते हैं। इसके बाद बुद्धि ऐसी कामपूर्ण रुचियों की राजधानी बन जाती है। बुद्धि आत्मा की निकट पड़ोसिन है। काममय बुद्धि से आत्मा प्रभावित होता है जिससे उसमें अहंकार उत्पन्न होता है और वह पदार्थ से तथा इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों से अपना तादात्म्य कर लेता है। आत्मा को भौतिक इन्द्रियों का भोग करने की लत पड़ जाती है जिसे वह वास्तविक सुख मान बैठता है। श्रीमद्भागवत में (१०.८४.१३) आत्मा के इस मिथ्या स्वरूप की अत्युत्तम विवेचना की गई है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

“जो मनुष्य इस त्रिधातु निर्मित शरीर को आत्मस्वरूप जान बैठता है, जो देह के विकारों को स्वजन समझता है, जो जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थस्थलों की यात्रा दिव्यज्ञान वाले पुरुष से भेंट करने के लिए नहीं, अपितु स्नान करने के लिए करता है उसे गधा या बैल के समान समझना चाहिए।”

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

### शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; त्वम्—तुम; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; आदौ—प्रारम्भ में; नियम्य—नियमित करके; भरत-ऋषभ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ; पाप्मानम्—पाप के महान प्रतीक को; प्रजहि—दमन करो; हि—निश्चय ही; एनम्—इस; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञान—तथा शुद्ध आत्मा के वैज्ञानिक ज्ञान का; नाशनम्—संहर्ता, विनाश करने वाला ।

इसलिए हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! प्रारम्भ में ही इन्द्रियों को वश में करके इस पाप के महान प्रतीक ( काम ) का दमन करो और ज्ञान तथा आत्म-साक्षात्कार के इस विनाशकर्ता का वध करो ।

### तात्पर्य

भगवान् ने अर्जुन को प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संयम करने का उपदेश दिया जिससे वह सबसे पापी शत्रु काम का दमन कर सके जो आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मज्ञान की उत्कंठा को विनष्ट करने वाला है। ज्ञान का अर्थ है आत्म तथा अनात्म के भेद का बोध अर्थात् यह ज्ञान कि आत्मा शरीर नहीं है। विज्ञान से आत्मा की स्वाभाविक स्थिति तथा परमात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का विशिष्ट ज्ञान सूचित होता है। श्रीमद्भागवत में (२.९.३१) इसकी विवेचना इस प्रकार हुई है—

*ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।*

*सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥*

“आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान अत्यन्त गुह्य एवं रहस्यमय है, किन्तु जब स्वयं भगवान् द्वारा इसके विविध पक्षों की विवेचना की जाती है तो ऐसा ज्ञान तथा विज्ञान समझा जा सकता है।” भगवद्गीता हमें आत्मा का सामान्य तथा विशिष्ट ज्ञान (ज्ञान तथा विज्ञान) प्रदान करती है। जीव भगवान् के भिन्न अंश हैं, अतः वे भगवान् की सेवा के लिए हैं। यह चेतना कृष्णभावनामृत कहलाती है। अतः मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से इस कृष्णभावनामृत को सीखना होता है, जिससे वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर तदनुसार कर्म करे।

काम ईश्वर-प्रेम का विकृत प्रतिबिम्ब है और प्रत्येक जीव के लिए स्वाभाविक है। किन्तु यदि किसी को प्रारम्भ से ही कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जाय तो प्राकृतिक ईश्वर-प्रेम काम के रूप में विकृत नहीं हो

सकता। एक बार ईश्वर-प्रेम के काम रूप में विकृत हो जाने पर इसके मौलिक स्वरूप को पुनः प्राप्त कर पाना दुःसाध्य हो जाता है। फिर भी, कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली होता है कि विलम्ब से प्रारम्भ करने वाला भी भक्ति के विधि-विधानों का पालन करके ईश्वरप्रेमी बन सकता है। अतः जीवन की किसी भी अवस्था में, या जब भी इसकी अनिवार्यता समझी जाए, मनुष्य कृष्णभावनामृत या भगवद्भक्ति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करना प्रारम्भ कर सकता है और काम को भगवत्प्रेम में बदल सकता है, जो मानव जीवन की पूर्णता की चरम अवस्था है।

**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।**

**मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥**

**शब्दार्थ**

इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; पराणि—श्रेष्ठ; आहुः—कहा जाता है; इन्द्रियेभ्यः—इन्द्रियों से बढ़कर; परम्—श्रेष्ठ; मनः—मन; मनसः—मन की अपेक्षा; तु—भी; परा—श्रेष्ठ; बुद्धिः—बुद्धि; यः—जो; बुद्धेः—बुद्धि से भी; परतः—श्रेष्ठ; तु—किन्तु; सः—वह।  
कमेंन्द्रियाँ जड़ पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों से बढ़कर है, बुद्धि मन से भी उच्च है और वह ( आत्मा ) बुद्धि से भी बढ़कर है।

**तात्पर्य**

इन्द्रियाँ काम के कार्यकलापों के विभिन्न द्वार हैं। काम का निवास शरीर में है, किन्तु उसे इन्द्रिय रूपी झरोखे प्राप्त हैं। अतः कुल मिलाकर इन्द्रियाँ शरीर से श्रेष्ठ हैं। श्रेष्ठ चेतना या कृष्णभावनामृत होने पर ये द्वार काम में नहीं आते। कृष्णभावनामृत में आत्मा भगवान् के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है, अतः यहाँ पर वर्णित शारीरिक कार्यों की श्रेष्ठता परमात्मा में आकर समाप्त हो जाती है। शारीरिक कर्म का अर्थ है—इन्द्रियों के कार्य और इन इन्द्रियों के अवरोध का अर्थ है—सारे शारीरिक कर्मों का अवरोध। लेकिन चूँकि मन सक्रिय रहता है, अतः शरीर के मौन तथा स्थिर रहने पर भी मन कार्य करता रहता है—यथा स्वप्न के समय मन कार्यशील रहता है। किन्तु मन के ऊपर भी बुद्धि की संकल्पशक्ति होती है और बुद्धि

के भी ऊपर स्वयं आत्मा है। अतः यदि आत्मा प्रत्यक्ष रूप में परमात्मा में रत रहे तो अन्य सारे अधीनस्थ—यथा—बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ—स्वतः रत हो जायेंगे। कठोपनिषद् में एक ऐसा ही अंश है जिसमें कहा गया है कि इन्द्रिय-विषय इन्द्रियों से श्रेष्ठ हैं और मन इन्द्रिय-विषयों से श्रेष्ठ है। अतः यदि मन भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है तो इन इन्द्रियों के अन्यत्र रत होने की सम्भावना नहीं रह जाती। इस मनोवृत्ति की विवेचना की जा चुकी है। परं दृष्ट्वा निवर्तते—यदि मन भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहे तो तुच्छ विषयों में उसके लग पाने की सम्भावना नहीं रह जाती। कठोपनिषद् में आत्मा को महान कहा गया है। अतः आत्मा इन्द्रिय-विषयों, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि—इन सबके ऊपर है। अतः सारी समस्या का हल यह है कि आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष समझा जाय।

मनुष्य को चाहिए कि बुद्धि के द्वारा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को ढूँढे और फिर मन को निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगाये रखे। इससे सारी समस्या हल हो जाती है। सामान्यतः नवदीक्षित अध्यात्मवादी को इन्द्रिय-विषयों से दूर रहने की सलाह दी जाती है। किन्तु इसके साथ-साथ मनुष्य को अपनी बुद्धि का उपयोग करके मन को सशक्त बनाना होता है। यदि कोई बुद्धिपूर्वक अपने मन को भगवान् के शरणागत होकर कृष्णभावनामृत में लगाता है, तो मन स्वतः सशक्त हो जाता है और यद्यपि इन्द्रियाँ सर्प के समान अत्यन्त बलिष्ठ होती हैं, किन्तु ऐसा करने पर वे दन्त-विहीन साँपों के समान अशक्त हो जाएँगी। यद्यपि आत्मा बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का भी स्वामी है तो भी जब तक इसे कृष्ण की संगति द्वारा कृष्णभावनामृत में सुदृढ नहीं कर लिया जाता तब तक चलायमान मन के कारण नीचे गिरने की पूरी पूरी सम्भावना बनी रहती है।

**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।**

**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥**

**शब्दार्थ**

एवम्—इस प्रकार; बुद्धेः—बुद्धि से; परम्—श्रेष्ठ; बुद्ध्वा—जानकर; संस्तभ्य—स्थिर करके; आत्मानम्—मन को; आत्मना—सुविचारित बुद्धि द्वारा; जहि—जीतो;



शत्रुम्—शत्रु को; महा-बाहो—हे महाबाहु; काम-रूपम्—काम के रूप में;  
दुरासदम्—दुर्जेय।

इस प्रकार हे महाबाहु अर्जुन! अपने आपको भौतिक इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि से परे जान कर और मन को सावधान आध्यात्मिक बुद्धि (कृष्णभावनामृत) से स्थिर करके आध्यात्मिक शक्ति द्वारा इस काम-रूपी दुर्जेय शत्रु को जीतो।  
तात्पर्य

भगवद्गीता का यह तृतीय अध्याय निष्कर्षतः मनुष्य को निर्देश देता है कि वह निर्विशेष शून्यवाद को चरम-लक्ष्य न मान कर अपने आपको भगवान् का शाश्वत सेवक समझते हुए कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त हो। भौतिक जीवन में मनुष्य काम तथा प्रकृति पर प्रभुत्व पाने की इच्छा से प्रभावित होता है। प्रभुत्व तथा इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ बद्धजीव की परम शत्रु हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत की शक्ति से मनुष्य इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि पर नियन्त्रण रख सकता है। इसके लिए मनुष्य को सहसा अपने नियतकर्मों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत विकसित करके भौतिक इन्द्रियों तथा मन से प्रभावित हुए बिना अपने शुद्ध स्वरूप के प्रति लक्षित स्थिर बुद्धि से दिव्य स्थिति को प्राप्त हुआ जा सकता है। यही इस अध्याय का सारांश है। सांसारिक जीवन की अपरिपक्व अवस्था में दार्शनिक चिन्तन तथा यौगिक आसनों के अभ्यास से इन्द्रियों को वश में करने के कृत्रिम प्रयासों से आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती। उसे श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा कृष्णभावनामृत में प्रशिक्षित होना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय “कर्मयोग” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।